अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्

[स्वोपज्ञकारिकावृत्तिसंवलितम्]

कुलपतेः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

प्रणेता सम्पादकश्च

प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी

पण्डितबटुकनाथशास्त्रिखिस्ते-ग्रन्थमाला
[पञ्चमं पुष्पम्]

अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्

[स्वोपज्ञकारिकावृत्तिसंवलितम्]

प्रणेता सम्पादकश्च
प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः
वाराणसी

PAṆḌITA BAṬUKANĀTHAŚĀSTRIKHISTE-
GRANTHAMĀLĀ
[Vol. 5]

ABHINAVAKĀVYĀLAṄKĀRASŪTRAM

FOREWORD BY

PROF. ASHOK KUMAR KALIA
VICE-CHANCELLOR

WRITTEN & EDITED BY

DR. RĀDHĀVALLABHA TRIPĀṬHĪ
Visiting Professor of Sanskrit (Embassy of India)
Sanskrit Studies Centre, Shilpakorn University
Bangkok (Thailand)

VARANASI
2005

Research Publication Supervisor—
Director, Research Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi.

ISBN : 81-7270-159-4

❐

Published by—
Dr. Harish Chandra Mani Tripathi
Director, Publication Institute
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

Available at—
Sales Department,
Sampurnanand Sanskrit University
Varanasi-221 002.

❐

First Edition, 500 Copies

Price : Rs. 150.00

❐

Printed by—
Shreejee Computer Printers
Nati Imli, Varanasi-221001

पण्डितबटुकनाथशास्त्रिखिस्ते-ग्रन्थमाला
[पञ्चमं पुष्पम्]

अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्

[स्वोपज्ञकारिकावृत्तिसंवलितम्]

कुलपतेः प्रो. अशोककुमारकालियामहोदयस्य प्रस्तावनया विभूषितम्

प्रणेता सम्पादकश्च
प्रो. राधावल्लभत्रिपाठी
अभ्यागताचार्यः, संस्कृतविभागस्य
संस्कृताध्ययनकेन्द्रस्य, शिल्पकोर्न-विश्वविद्यालये
बैंकाकनगरे (थाईलैण्डदेशः)

वाराणस्याम्
२०६२ तमे वैक्रमाब्दे १९२७ तमे शकाब्दे २००५ तमे खैस्ताब्दे

अनुसन्धान-प्रकाशन-पर्यवेक्षकः —
निदेशकः, अनुसन्धान-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी।

ISBN : 81-7270-159-4

❒

प्रकाशकः—
डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठी
निदेशकः, प्रकाशन-संस्थानस्य
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालये
वाराणसी-२२१००२

❒

प्राप्ति-स्थानम्—
विक्रय-विभागः,
सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयस्य
वाराणसी-२२१००२

❒

प्रथमं संस्करणम् – ५०० प्रतिरूपाणि

मूल्यम् – १५०.०० रूप्यकाणि

❒

मुद्रकः—
श्रीजी कम्प्यूटर प्रिण्टर्स
नाटी इमली, वाराणसी-२२१००१

प्रस्तावना

महद्धर्षप्रकर्षस्य विषयोऽयं यत् सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य प्रकाशन-संस्थानद्वारा विलक्षणवैदुषीसम्पन्नेन श्रीमता राधावल्लभत्रिपाठिना विरचितं **सव्याख्यमभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रं** प्रकाश्यतां नीयते। काव्यशास्त्रोभयविचक्षणः आचार्यश्रीराधावल्लभः सागरमपि नगरं क्रियमाणो बोभूषयति सागरनगरम्। न हि केवलमाभरतात्पण्डित-राजजगन्नाथं यावत्सन्दृश्यते काप्यविच्छिन्ना परम्परा संस्कृतकाव्यशास्त्रस्य; अपि तु विविधसम्प्रदायविद्भिराचार्यैर्भाष्यिकारैष्टीकोपटीकाकारैश्च सम्पुष्टा पण्डितराजोत्तरे कालखण्डेऽपि शतमितैः काव्यशास्त्रिभिः सर्वेश्वराऽच्युत-रायविश्वेश्वराऽऽशाधरभट्टदेवशङ्करपुरोहितश्रीकृष्णब्रह्मतन्त्रपरकालसंयमीन्द्र-प्रभृतिभिर्नवनवोन्मेषैः सञ्चालिता परम्परेयम्। अद्यापि महीयन्ते केचन नव्याः काव्यशास्त्रिणः, येऽभिनवकाव्यशास्त्रचिन्तनधुरं साधु वहन्ति।

तेष्वेवाचार्येषु विलक्षणमेव प्रथिमानं बिभर्ति सम्प्रत्यभिनवकाव्या-लङ्कारसूत्रकारः श्रीमदाचार्यराधावल्लभस्त्रिपाठी। तस्य कृतिरियमधिकारत्रयेषु विभक्ता। तत्रापि काव्यस्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमाधिकरणं षट्सु अध्यायेषु विभक्तम्। द्वितीयमलङ्कारविमर्शात्मकमधिकरणं विभागषट्केनैव विभाजितम्। एवमेव काव्यविशेषविमर्शात्मकं तृतीयमधिकरणं पाठ्यदृश्यभेदद्वयेन विभक्तान् विविधकाव्यभेदान् निरूपयति। तत्राचार्यस्त्रिपाठी प्राचीनाचार्यैर्व्यपदिष्टं श्रव्यं पाठ्यनाम्ना व्यपदिशति। तत्र हेतुं प्रतिपादयन् स कथयति यद् यस्मिन् काले कवयः सदसि समाजे वा स्वकाव्यं पाठं पाठं श्रावयन्ति, सहृदयाश्च श्रावं श्रावं काव्यार्थं भावयन्ति स्म, तस्मिन् काले श्रव्यकाव्यमिति नाम अन्वर्थमासीत्। सम्प्रति साहित्यस्य श्रवणं न तथा प्रचलितं, यथा मुद्रितैः पुस्तकैस्तस्य पाठः। अतः पाठ्यमेवेति संज्ञैवोचिता। आचार्यत्रिपाठिना विषयप्रधाना महाकाव्योपन्यासनाटकाद्या विधा ग़ज़लगीतिश्चेत्याद्या विषयिप्रधानाः गद्यभेदेषु निबन्धालोचनाकथोपन्यासससंस्मरणजीवनचरित्रात्मकथारेखाचित्र-

यात्रावृत्तान्तदैनन्दिनीवार्तासाक्षात्कारादयो भेदा निरूपिताः परिभाषिताश्चाभिनवपरिपाट्या। एवमेव समग्रेऽपि ग्रन्थेऽस्मिन् नवनवोन्मेषनिदर्शकान् स्वाभिमतनवसिद्धान्तान् प्रतिपाद्याभिनवं काव्यालङ्कारसूत्रं व्यरचयदाचार्यस्त्रिपाठी। तत्रैव स्वोपज्ञव्याख्ययाऽपि सूत्रात्मको ग्रन्थः संवलितः।

यथा प्राचीनाचार्याणां मम्मटादीनां काव्यलक्षणानि परिशील्य **'लोकानुकीर्तनं काव्यम्'** इति काव्यलक्षणं पुरस्करोति पुनः पुनः व्याख्याति च। एवं **'मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्'** इति नूतनं काव्यप्रयोजनं प्रस्तौति। पुनश्च **'जागरिता प्रतिभा तस्य कारणम्'** इति काव्यस्य कारणं प्रतिपादयति। ततः **'अलङ्कारः काव्यजीवनम्'** इति प्रतिपाद्यालङ्कारवादिभिरलङ्कारतयैवाभिमतेषु गुणरीतिरसादिषु अलङ्कारपदमलङ्करोतीत्यलङ्कारः, अलङ्कृतिश्चालङ्कार इति निर्वचनं करोति।

अनेन प्रकारेण प्राच्यपाश्चात्त्यसाहित्यशास्त्राणां क्षीरोदधिं निर्मथ्य नवसिद्धान्तमौक्तिकमस्माकं पुरस्करोति, एष तु महत्प्रमोदावसरः। एतेन विलक्षणमेवोपकारं साहित्यशास्त्ररसिकानां कृतवान् प्राच्यप्रतीच्योभयविद्यानिष्णातो विलक्षणवैदुषीसंवलित **आचार्यश्रीराधावल्लभस्त्रिपाठी**। तदर्थमहं तं कोविदरत्नं कीर्तिप्रीतिपूर्वकशतायुष्यकामनया सम्भूषये।

प्रकाशनसंस्थाननिदेशको रत्नपरिचयनिष्णातो विद्वत्पक्षधरो **डॉ. हरिश्चन्द्रमणित्रिपाठि**वर्यश्चापि हार्दिकीमभिख्यां धन्यवादवाचनिकामर्हति। तस्य सारस्वताध्यवसायेन महीयते सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयः।

लेखनकर्मविरामपूर्वकाले ग्रन्थमिमं साम्बाय सान्नपूर्णाय श्रीकाशीविश्वनाथाय समर्प्य कामये यदिदमभिनवं काव्यशास्त्रं विदुषां छात्राणां सहृदयानां मोदाय स्यादिति।

अशोककुमारकालिया

(प्रो. अशोककुमारकालिया)
कुलपतिः
सम्पूर्णानन्दसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य

वाराणसी
स्वतन्त्रतादिवसस्य पूर्वसन्ध्या,
२०६२ तमो विक्रमाब्दः,
२००५ तमः खिस्ताब्दः

परिचय

'अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्' आज के वैश्विक परिप्रेक्ष्य में नया काव्यशास्त्र है। यह वैश्विक परिप्रेक्ष्य अलङ्कारतत्त्व को भूषण, वारण और पर्याप्ति की त्रिविध प्रक्रिया की सृष्टि के त्रिविध स्तरों--आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक—के सन्दर्भ में पुनर्व्याख्या के साथ यहाँ दिया गया है। काव्यशास्त्र की प्राचीन परम्परा में ऐसी अनेक सम्भावनाएँ विद्यमान हैं, जिनसे नये प्रतिमानों और नये मानकों का विकास किया जा सकता है। वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र के सिद्धान्त विश्वसाहित्य के मूल्यांकन के लिए अभिनव मापदण्डों की खोज में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। आज के साहित्य में हो रहे नये प्रयोगों की सार्थकता का भी आकलन इन मापदण्डों के द्वारा किया जा सकता है। इस दृष्टि से कुछ विचार-विमर्श मैंने हिन्दी में अपने कुछ लेखों में पहले किया है। ये लेख 'भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा' तथा 'भारतीय साहित्यशास्त्र और साहित्य' नाम से दो पुस्तकों में प्रकाशित हो चुके हैं। यह विमर्श प्रायः व्यासशैली में किया गया है। मेरे लिये शास्त्रचिन्तन की सहज भाषा संस्कृत रही है। अतः तभी से यह इच्छा थी कि अपनी बात सूत्रबद्ध रूप में सामासिक शैली में भी प्रस्तुत करूँ।

संस्कृत काव्यशास्त्र का लगभग तीन सहस्र वर्षों का इतिहास इसकी गत्यात्मकता तथा अनवरत विकासयात्रा का प्रमाण है। इसकी परम्परा का व्यवस्थापन और पुनर्व्यवस्थापन प्रत्येक युग में बार-बार होता रहा है। राजशेखर और भोज दसवीं शताब्दी में सम्पूर्ण काव्यशास्त्र को पुनर्व्यवस्थापित करने का प्रयास करते हैं। बीसवीं शताब्दी में भी ऐसे प्रयास हो रहे हैं। 'अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्' इसी प्रकार का एक प्रयास है। इसमें प्राचीन कालजयी साहित्य का पुनःसन्धान भी किया गया है और विश्वसाहित्य में हो रहे नवोत्थान और नवप्रयोगों का

परीक्षण भी। इन दोनों के आधार से साहित्य-समीक्षा के नये मानदण्ड विकसित करने का यहाँ उद्यम किया गया है। संस्कृत काव्यशास्त्र की अनेक कोटियों की पुनर्व्याख्या भी इस क्रम में की गई है। संस्कृत की प्राचीन और नवीन रचनाओं के साथ विश्व की अनेक कालजयी कृतियों का नवीन सिद्धान्तों के निकष के लिए प्रमाणस्वरूप या उदाहरणस्वरूप विमर्श यहाँ किया गया है।

यह ग्रन्थ तीन अधिकरणों में विभाजित है। **'काव्यस्वरूपनिरूपण'** नामक प्रथमाधिकरण में ६ अध्याय हैं। इसके 'काव्यलक्षणनिरूपणम्' शीर्षक प्रथम अध्याय में काव्य के लक्षण पर विचार किया गया है। काव्य से आशय छन्दोबद्ध या पद्यात्मक रचना से ही नहीं है। गद्य की समस्त विधाएँ, जिन्हें साहित्य कहा जाता है, इसमें समाहित हैं। काव्य का लक्षण यहाँ यह किया गया है— **'लोकानुकीर्तनं काव्यम्'**। केवल स्थावरजङ्गमात्मक संसार ही नहीं, अपितु कविचेतना के द्वारा विभाव्यमान समस्त भुवन ही लोक है। अभिनवगुप्त आदि की अपेक्षा लोक का व्यापक अर्थ में विवेचन करते हुए इसमें मैंने कविकल्पना के संसार और मनोलोक का भी समावेश माना है। वस्तुतः दिक्काल में प्रसृत समस्त सृष्टि लोक है। जो कुछ प्रतीतिगोचर होता है, वह लोक है। ब्रह्म आदि को उपचार से ही अलौकिक या लोकातिक्रान्तगोचर कहा जाता है। वास्तव में अलौकिक या लोकातिक्रान्त कुछ नहीं होता। इस दृष्टि से लोक के तीन रूप हैं— आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक। ये तीनों रूप एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। इन तीनों का समग्र समुल्लास जीवन है। जीवन की भी आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। जीवन के पुरुषार्थ (धर्मार्थकाम) से इनका सम्बन्ध है। जीवन एक व्यक्ति का ही नहीं, समाज या राष्ट्र का तथा ब्रह्माण्ड का भी होता है। साहित्य या कविता में त्रिविध जीवन प्रतिफलित होता है। इसलिए आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक जीवन के इन तीन रूपों

में से केवल एक या दो में ही सर्वथा पर्यवसित काव्यरचना समग्र नहीं कही जा सकती। यह सम्भव है कि किसी रचना में आधिभौतिक संसार का निरूपण प्राधान्येन किया गया हो, किसी में आधिदैविक का या किसी में आध्यात्मिक का। परन्तु एक की प्रधानता से अन्य रूपों का निराकरण नहीं अपितु ग्रहण ही होता है। इस प्रकार काव्य में जीवन की समग्रता अनुकीर्तन की चार अवस्थाओं के अनुसार कहीं प्रतिफलित होती है, कहीं उन्मीलित, कहीं विकसित तो कहीं समुल्लसित। वैदिक परम्परा में वाणी के चार रूप निरूपित किये गये हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। काव्यरचनाप्रक्रिया में नामान्तर से इनका विनियोग यहाँ स्वीकार किया गया है।

अनून्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव तथा अनुव्याहरण—ये अनुकीर्तन की चार अवस्थाएँ हैं। कविमानस में जीवन का प्रथम उन्मेष अनून्मीलन है। जीवन के इस उन्मेष का कवि के द्वारा अपनी रचना-प्रक्रिया में दर्शन ही अनुदर्शन है। अनुदृष्ट स्थितियों के निरूपण के लिए शब्द और अर्थ के द्वारा वस्तु तथा रूप का आविष्कार अनुभव है। अनुभूत दशाओं का शब्दों से स्फुट कथन अनुव्याहरण है।

अनून्मीलन, अनुदर्शन, अनुभव तथा अनुव्याहरण के विनियोग से आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक विश्व काव्य में परिपूर्ण रूप से व्यक्त होते हैं। यही काव्य की परिपूर्णता है और यही अलङ्कार है। अत एव अलङ्कार ही काव्य है।

इस अध्याय के अन्त में वेद, ब्राह्मण-ग्रन्थों के प्रमाण से लोकानुकीर्तन ही काव्य है—इस लक्षण की युक्तियुक्तता प्रमाणित की गई है तथा अन्य आचार्यों के लक्षणों से भी उसकी अन्विति पर विचार किया गया है।

प्रथमाधिकरण के द्वितीय अध्याय में काव्यप्रयोजन पर विचार किया गया है। काव्य का प्रयोजन मैंने मुक्ति माना है तथा आवरणभङ्ग को मुक्ति कहा है। सङ्कुचितप्रमातृत्व ही आवरण है। अन्य प्रयोजन जो इतर आचार्यों ने बताये हैं, वे अकिञ्चित्कर हैं।

प्रथमाधिकरण के तृतीय अध्याय में काव्यकारण का निरूपण है। ग्रन्थकार ने जागरिता प्रतिभा को काव्य का कारण माना है। प्रतिभा दो प्रकार की होती है—संस्काररूपा तथा जागरिता। संस्काररूपा प्रतिभा तो सभी में होती है। पर सब की प्रतिभा स्पन्दमयी नहीं होती। स्पन्द कविप्रतिभा का स्वभाव है।

प्रथमाधिकरण के चतुर्थ अध्याय में काव्यभेदनिरूपण है। काव्य के उत्तमोत्तम, उत्तम, मध्यम तथा अवर—ये चार भेद यहाँ बताये गये हैं। जीवन के सर्वांगीण रूप का निरूपण करने वाला महावाक्यात्मक काव्य उत्तमोत्तम है, उसके एकदेश का निर्देश करने वाला उत्तम, वस्तुविशेष या मनःस्थितिविशेष को प्रकट करने वाला मध्यम तथा पदार्थमात्रपर्यवसित काव्य अवर है। नानादिक्कालावच्छिन्न वाक्यों का पुरुषार्थप्रवर्तक समूह महावाक्य है। काव्य में कोई अलङ्कार अकेला नहीं आता। अलङ्कारव्यतिकर, अलङ्कारसम्भेद या अलङ्कारसम्प्लव की अवधारणा का प्रतिपादन करते हुए यहाँ काव्य की समग्रता में अलङ्कार का प्रकार्य प्रतिपादित किया गया है।

काव्य के इन चार प्रकारों के अनुसार कवि भी चार प्रकार के हो सकते हैं। उत्तमोत्तम काव्य का रचयिता कवि सिद्ध होता है, उत्तम काव्य का प्रणेता साधक, मध्यम की रचना करने वाला आभ्यासिक तथा अवर काव्य बनाने वाला कवि घटक हुआ करता है। इन कवियों का अपनी-अपनी रचना-प्रवृत्ति के अनुसार तत्तत् काव्य-विधा में रचना की प्रवृत्ति होती है।

तत्त्वाभिनिवेशी, विषयनिष्ठ, विषयिनिष्ठ तथा सतृणाभ्यवहारी—ये समीक्षक के चार भेद हैं। इनकी भी समीक्षाप्रवृत्ति तदनुसार उत्तमोत्तम काव्य या सिद्ध आदि कवियों के समालोचन में होती है। अन्य आचार्यों के द्वारा प्रतिपादित भावक की कोटियों का इन्हीं में अन्तर्भाव या इनके द्वारा निराकरण हो जाता है।

प्रथमाधिकरण के शब्दव्यापारनिरूपण नामक पञ्चम अध्याय में त्रिविध वृत्तियों का निरूपण है। ग्रन्थकार ने शब्द का एक ही व्यापार

माना है—सङ्केत। अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना आदि वृत्तियाँ इसी सङ्केत व्यापार के भेद हैं। ये वृत्तियाँ आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक जगत् को उन्मीलित करती हैं। वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थों का समवाय काव्य की श्रेष्ठता का साधक है। अङ्गाङ्गिभाव, उपकार्योपकारकभाव तथा परस्परस्पर्धाधिरोह—ये तीन इन वाच्यादि अर्थों के सहभाव की अवस्थाएँ हैं। इनमें परस्परस्पर्धाधिरोह की स्थिति श्रेष्ठ है। व्यङ्ग्य अर्थ की प्रधानता होने पर उत्तम काव्य होता है और प्रधानता न होने पर मध्यम या अधम—मम्मटादि के इस मन्तव्य का यहाँ सप्रमाण खण्डन किया गया है। कविता में सभी प्रकार के अर्थों में अलङ्कार रहता ही है। काव्य में रूप और वस्तु का सम्बन्ध भी तिलतण्डुलवत्, गोशृङ्गसदृश तथा नीरक्षीरसम—इस प्रकार से तीन प्रकार का हो सकता है। इनमें उत्तरोत्तर सम्बन्ध श्रेयान् है।

परस्परस्पर्धाधिरोह के द्वारा ग्रन्थकार ने शब्द और अर्थ में द्वन्द्वात्मक सम्बन्ध भी स्वीकार किया है तथा इस पर द्वन्द्वालङ्कार के प्रसङ्ग में पुनः विचार किया गया है। काव्य में व्यक्त आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक सत्ताओं का पारस्परिक सम्बन्ध पद, पदार्थ और वाक्यार्थों की भाँति होता है।

इस अधिकरण के षष्ठ अध्याय में काव्य में शास्त्रसङ्गति का विचार किया गया है। काव्य में शास्त्रसङ्क्रान्ति तीन प्रकार की होती है—समवेता, सङ्गता तथा बलादानीता। पहली सागर में तरङ्गों की उछाल के समान होती है। जिस प्रकार सागर में तरङ्गें स्वतः आलोडित होती हैं, उसी प्रकार शास्त्रतत्त्व कविमानस में। इनमें प्राचीन शास्त्रों के विचार भी उद्गत हो सकते हैं और अदृष्टपूर्व विचारतत्त्व भी। कविप्रतिभा अपना शास्त्र स्वयं रच लेती है और ऐसी प्रतिभा के द्वारा रचा काव्य स्वतः प्रमाण है। द्वितीय स्थिति भोजन में लवण के समान शास्त्रतत्त्व बाहर से सम्मिश्रित होकर भी पृथक् से पहचान नहीं रखते। तीसरी स्थिति में फटे वस्त्र पर लगाये गये पैबन्द के समान शास्त्रतत्त्व कविता में अलग से झलकता है। इनमें पूर्व-पूर्व स्थिति श्रेयसी है।

काव्य में शास्त्र का समावेश काव्यसमयान्त:पाती बनाकर या कविता की अपनी शर्तों पर ही किया जाना चाहिए। पहली स्थिति में विचार तत्त्व रचना में वैसे ही आविर्भूत होता है, जिस तरह वनस्पतियों में प्ररोहकाल में रस स्वत: आ जाता है। दूसरी स्थिति में अन्न को पकाने के समय मिलाये जाने वाले विविध व्यञ्जनों या मसालों के समान रचना में विचार तत्त्व का आधान किया जाता है। तीसरी स्थिति तो उच्छिष्टरूप में परान्न के लिए स्वीकार की है।

काव्य और शास्त्र के परस्पर उपकार्योपकारकभाव सम्बन्ध को यहाँ स्वीकार किया गया है, पर काव्य शास्त्रपूर्वक ही होता है—राजशेखर के इस मत का खण्डन किया गया है।

'अलङ्कारविमर्श' नामक द्वितीय अधिकरण में ६ अध्याय हैं। इनमें पहले अध्याय में अलङ्कार के स्वरूप पर विचार है। **'आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकविश्वत्रयसमुन्मीलनपुरस्सरं भूषणवारण-पर्याप्त्याधायकत्वमलङ्कारत्वम्'** यह अलङ्कार का लक्षण किया गया है। भूषण, वारण तथा पर्याप्ति—अलङ्कार की काव्यरचनाप्रक्रिया में इन त्रिविध स्थितियों का सम्बन्ध आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक इन त्रिविध सत्ताओं से किस प्रकार है, यह यहाँ सप्रमाण गवेषित है। कविता में अलङ्कार अविभाज्य व अनिवार्य तत्त्व है, तो अलङ्कार के लक्षण के अनुसार उसमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक विश्वों का उन्मीलन होना चाहिए। यह सम्भव है कि किसी कृति में केवल आधिभौतिक की, किसी में केवल आधिदैविक की, तो किसी में केवल आध्यात्मिक की प्रधानता प्रतीत होती हो। कालिदास के तीनों रूपकों का सोदाहरण विश्लेषण करते हुए यहाँ यह प्रतिपादित किया गया है कि मालविकाग्निमित्र में आधिभौतिक विश्व की प्रधानता है, पर अन्य दो विश्व उसमें न्यग्भूत स्थिति में समाविष्ट हैं, विक्रमोर्वशीयम् में आधिदैविक जगत् में कवि की रचना-प्रक्रिया अधिक रमी है, शाकुन्तल में वह आध्यात्मिक विश्व की ओर उन्मुख हुई है। अलङ्कारों में भी आभ्यन्तर और बाह्य अलङ्कारों का प्रयोग इन रूपकों में तदनुसार न्यूनाधिक्येन हुआ है।

कविव्यापारनिरूपण नामक द्वितीय अध्याय में कविव्यापार का लक्षण किया गया है—अलम्भाव के आधान के लिए कवि के द्वारा सम्पाद्यमान प्रक्रिया कविव्यापार है। इसके चार भेद हैं—वृत्ति, रीति, मार्ग तथा रस। नियतवर्णगत व्यापार वृत्ति है। पदविशेषगत व्यापार रीति है। अर्थविषयक व्यापार मार्ग है तथा आस्वादविषयक व्यापार रस है।

अलम्भावनिरूपण नामक तृतीय अध्याय में अलम्भाव का स्वरूप **'अलम्भावस्तु पूर्णता'** इस सूत्र के द्वारा बताया गया है। अलम्भाव का अधिष्ठान मनुष्यचैतन्य है अथवा इसी में चैतन्य प्रतिष्ठित है, यह भी कहा जा सकता हैं। चेतना का व्यापकीभवन और तन्मयीभवन—इसी के दो पक्ष हैं।

द्वितीय अधिकरण के चतुर्थ अध्याय में अलङ्कारविभाग बताया गया है। अलङ्कार के दो प्रकार यहाँ कहे गये हैं—आभ्यन्तर तथा बाह्य। पर्याप्ति, वारण, भूषण की प्रक्रियाओं के साथ आध्यात्मिक, आधिदैविक तथा आधिभौतिक—ये तीन प्रकार भी अलङ्कार के हो जाते हैं। संरचना की दृष्टि से अलङ्कार के पदगत, पदार्थगत, वाक्यगत, प्रकरणगत तथा प्रबन्धगत—ये पाँच भेद होते हैं तथा शब्द-व्यापार की दृष्टि से वाच्यगत, लक्ष्यगत तथा व्यङ्ग्यगत ये तीन भेद। अलङ्कार काव्य में सदैव समवेत ही होते हैं। इनमें आभ्यन्तर अलङ्कार काव्य में उसी प्रकार रहते हैं, जिस प्रकार अग्नि में उष्णता। इनके बिना काव्य या साहित्य की सृष्टि सम्भव ही नहीं है। बाह्य अलङ्कार काव्य में उसी प्रकार रहते हैं, जैसे अग्नि में कान्तिमत्ता, ज्वालावलीढता आदि धर्म। ये भी काव्य में समवेत ही रहते हैं तथा ये आभ्यन्तर अलङ्कारों की अपेक्षा से बाह्य हैं, अन्यथा वे भी कविता के आभ्यन्तर और अविभाज्य अवयव ही हैं।

पञ्चम अध्याय में आभ्यन्तरालङ्कारनिरूपण के अन्तर्गत ग्यारह आभ्यन्तर अलङ्कार भेदोदाहरणसहित विवेचित हैं—प्रेमा, आह्लाद, विषादन, विभीषिका, व्यङ्ग्य, कौतुक, जिजीविषा, अहङ्कार, स्मृति, साक्ष्य तथा उदात्त। रसों का यथावकाश इनमें अन्तर्भाव हो जाता है। उदात्त अलङ्कार में वीर रस, प्रेम और आह्लाद में शृङ्गार तथा हास्य,

विषादन में करुण; विभीषिका में बीभत्स और भयानक; व्यङ्ग्य में हास्य, कौतुक में अद्भुत और अहङ्कार में रौद्र तथा साक्ष्य अलङ्कार में शान्त रस अन्तर्भूत हैं।

बाह्यालङ्कारनिरूपण नामक षष्ठ अध्याय में बाह्य अलङ्कारों के चार प्रकार बताये गये हैं—सङ्घटनाश्रित, विरोधमूलक, औपम्यमूलक तथा वृत्तिमूलक। इनमें अन्यथाकरण, छाया, स्वभाव या जाति तथा अतिशय—ये चार सङ्घटनाश्रित बाह्य अलङ्कार हैं। अपह्नुति, विरोध, असङ्गति, विषम, द्वन्द्व और तानव—ये छ: विरोधमूलक वर्ग के बाह्य अलङ्कार हैं तथा उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा और दीपक—ये चार औपम्यमूलक वर्ग के। नादानुवृत्ति, यमक, श्लेष तथा लय—ये चार वृत्तिमूलक अलङ्कार हैं। इस प्रकार बाह्य अलङ्कार की कोटि में कुल अठारह अलङ्कार समाविष्ट हैं। जाति अलङ्कार के विचार में यह प्रदर्शित किया गया है कि आज की समीक्षा में जिसे यथार्थवाद कहा जाता है, उसकी समग्र अवधारणा इस अलङ्कार में आ जाती है। जाति या स्वभावोक्ति अलङ्कार में वास्तविकता का चित्रण तथा यथार्थदृष्टि अपेक्षित होती है। जिन अलङ्कारों में कल्पना की उड़ान भरती है, उन्हें साधना सरल है, जाति अलङ्कार को साधना कठिन। कल्पना की उड़ान भरते समय कवि अन्य कवियों से भी सामग्री ले सकता है, जाति अलङ्कार के निबन्धन में तो स्वयं का देखा-परखा अनुभूत सत्य ही व्यक्त हो सकता है। इसीलिए प्राचीन परम्परा में भी जातिकाव्य की प्रशंसा की जाती रही है। जातिकाव्य में अतिशय अलङ्कार बिल्कुल ही न रहता हो, ऐसा नहीं है। वस्तुत: जाति और अतिशय एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। किसी काव्य में एक जाति का पक्ष सम्मुख या उदग्र रहता है और अतिशय पृष्ठवर्ती हो जाता है, किसी में अतिशय की उदग्रता होती है, पर पृष्ठभूमि में जाति नहीं होगी, तो ऐसा अतिशय भी हास्यास्पद या निरर्थक हो जायेगा। जाति अलङ्कार में प्रेमा, उदात्त जिजीविषा अवश्य होने चाहिए, नहीं तो काव्य जातिविभूषित न होकर जात्याभासविदूषित हो जायेगा।

पाश्चात्त्य समीक्षा के बिम्बसिद्धान्त की भी अन्तर्वर्तिता इस ग्रन्थ में उक्त अलङ्कारों में प्रदर्शित की गई है। काव्यबिम्ब के दो प्रकार यहाँ माने गये हैं—जातिमूलक बिम्ब तथा अतिशयमूलक बिम्ब। सन्देह अलङ्कार का उत्प्रेक्षा में और भ्रान्तिमान् का रूपक में अन्तर्भाव हो जाता है। पाश्चात्त्य समीक्षा में प्रतिपादित प्रतीकविधान का अन्तर्भाव भी यहाँ रूपक अलङ्कार में ही प्रतिपादित किया गया है। इन सभी अलङ्कारों के प्रकरणगत और प्रबन्धगत भेदों के विवेचन में यहाँ यह प्रदर्शित किया गया है कि किस प्रकार किसी एक उत्तम रचना में आद्यन्त इनमें से कोई अलङ्कार पिरोया हुआ हो सकता है, और इसके द्वारा तत्तद् रचना के अपने वैशिष्ट्य का उद्घाटन किया जा सकता है। इस दृष्टि से मालविकाग्निमित्र में अपह्नुति, विक्रमोर्वशीयम् में उत्प्रेक्षा तथा शाकुन्तल की समग्र संरचना में स्मृति, अतिशय जैसे अलङ्कारों की व्याप्ति दिखा-कर इन अलङ्कारों के प्रबन्धगत स्वरूप का यहाँ विस्तृत विवेचन किया गया है। अनुप्रास अलङ्कार का निराकरण करके यहाँ नादानुवृत्ति और लय इन दो नवीन अलङ्कारों की बाह्यालङ्कारवर्ग में परिकल्पना प्रस्तुत की गई है। नादानुवृत्ति के शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध की नाद के द्वारा अनुवर्तिता की दृष्टि से पाँच प्रकार हो जाते हैं। लय अलङ्कार प्रत्येक रचना में अनिवार्य है, संरचना के स्तर पर तत्काल आभासित होने के कारण ही इसे बाह्य अलङ्कारों में रखा गया है, अन्यथा यह हर साहित्य में अविभाज्यवृत्ति होकर रहता ही है।

यथावसर इन अलङ्कारों के आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक प्रकारों का भी निरूपण यहाँ किया गया है। उपमा में उपमेय अथवा उपमान आधिभौतिक, आधिदैविक या आध्यात्मिक हो सकते हैं। उत्प्रेक्षा मूलतः आधिदैविक अलङ्कार है। सम्भावन के द्वारा कवि इसमें कभी आधिभौतिक जगत् में आधिदैविक का अवतरण कराता है, तो कभी आधिभौतिक का आधिदैविक तक आरोहण सम्भाव्य बनाता है।

तृतीय अधिकरण में पाठ्य और दृश्य इन द्विविध काव्यविधाओं के नाना प्रकारों का निरूपण है। श्रव्य के स्थान पर मैंने यहाँ पाठ्य

शब्द अधिक समीचीन माना है। पद्य की विधाओं में गजल गीति, मुक्तच्छन्द काव्य, समस्या काव्य आदि तथा गद्य के भेदों में निबन्ध, आलोचना, कथा, उपन्यास, संस्मरण, जीवनचरित्र, आत्मकथा, रेखाचित्र, यात्रावृत्तान्त आदि नवीन विधाओं का भी विवेचन किया गया है।

प्रो. 'अभिराज' राजेन्द्र मिश्र, कुलपति, सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय की गुणज्ञता और सौजन्य से यह ग्रन्थ प्रकाश में आ रहा है, एतदर्थ मैं उनका तथा विश्वविद्यालय का अभिनन्दन करता हूँ।

—राधावल्लभ त्रिपाठी

अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रम्

मूलसूत्राणि

लोकानुकीर्तनं काव्यम् ।।१।१।१।।

स च लोकस्त्रिविध:।।१।१।२।।

आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिकश्च।।१।१।३।।

अनुषक्तत्वं चैतेषां त्रयाणामपि।। १।१।४।।

त्रयाणां च सकल: समुल्लासो जीवनम्।।१।१।५।।

तच्च साहित्ये प्रतिफलति।। १।१।६।।

अनुकीर्तनं चतुर्विधम्।।१।१।७।।

तेनास्य पूर्णता।।१।१।८।।

पूर्णता चालङ्कार:।।१।१।९।।

तेन अलङ्कार एव काव्यम्।। १।१।१०।।

मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्।।१।२।१।।

सृष्टेश्चेतनायास्त्रैविध्येन सा त्रिधा त्रिधा।।१।२।२।।

अनुषक्तत्वं चासाम्।१।२।३।।

मुक्तिश्चावरणभङ्ग:।।१।२।४।।

आवरणं च सङ्कुचितप्रमातृत्वम्।। १।२।५।।

प्रमाता च कवि: सहृदयश्च।। १।२।६।।

तदीयचैतन्यसङ्कोच: सङ्कुचितत्वम्।। १।२।७।।

जागरिता प्रतिभा तस्य कारणम्।। १।३।१।।

चतुर्विधं तत्।।१।४।१।।

उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अवरञ्च।।१।४।२।।

सर्वाङ्गीणं जीवनं निर्दिशत् महावाक्यं प्रथमम्, जीवनस्यैकदेशं निर्दिशद् द्वितीयम्, वस्तुविशेषं मन:स्थितिविशेषं वा प्रकाशयन्मध्यमम्, पदार्थमात्रपर्यवसितं त्ववरम्।।१।४।३।।

नानादिक्कालावच्छिन्नानां वाक्यानां पुरुषार्थप्रवर्तक: समूहो महावाक्यम्।। १।४।४।।

चतुर्विध: समीक्षक:। तत्त्वाभिनिवेशी, विषयनिष्ठो विषयिनिष्ठ: सतृणाभ्यवहारी चेति।।१।४।५।।

शब्दस्यैको व्यापारस्तिस्रो वृत्तयश्च।। १।५।१।।

ताश्च त्रिभिर्लौकैरन्विता:।।१।५।२।।

वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या अर्था:।। १।५।३।।

सर्वेष्वलङ्कारो व्याप्त:।। १।५।४।।

एतैश्च शब्दार्थै: काव्ये रूपवस्तुसमवाय:।।१।५।५।।

त्रिविधा शास्त्रसङ्क्रान्ति:। समवेता सङ्गता बलादानीता च।।१।६।१।।

साङ्कर्यं, संसृष्टि:, ईषत्स्पृष्टत्वमभावश्चेति चतस्रोऽवस्था: शास्त्रावस्थानस्य।। १।६।२।।

अलङ्कार: काव्यजीवनम्।।२।१।१।।

आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकविश्वत्रय-समुन्मीलनपुरस्सरं भूषणवारणपर्याप्त्या-धायकत्वमलङ्कारत्वम्।।२।१।२।।

अलम्भावमाधातुं कविना सम्पाद्यमाना प्रक्रिया कविव्यापारः।।२।२।१।।

स चतुर्धा वृत्ति-रीति-मार्ग-रसभेदात्।। २।२।२।।

नियतवर्णगतो व्यापारो वृत्तिः।। २।२।३।।

पदविशेषगतो व्यापारो रीतिः।। २।२।४।।

अर्थविषयको व्यापारो मार्गः।। २।२।५।।

आस्वादविषयको व्यापारो रसः।। २।२।६।।

अलम्भावस्तु पूर्णता।।२।३।१।।

अलङ्कारा द्विविधाः—आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च।।२।४।१।।

पर्याप्ति - वारण - भूषण - प्रक्रियाभिः आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकभेदेन इमे च त्रिविधाः।।२।४।२।।

पुनश्च पदपदार्थवाक्यप्रकरणप्रबन्ध-गतत्वेन पञ्चविधाः।।२।४।३।।

त्रिविधाश्च शब्दव्यापारदृशा।।२।४।४।।

आभ्यन्तरा एकादश।।२।५।१।।

प्राणिषु परस्परमहैतुकी संवेदना प्रेमा।। २।५।२।।

आह्लादस्तु आनन्त्यानुभूतिः।। २।५।३।।

इष्यमाणार्थानामसिद्धौ विरुद्धानां च सम्प्राप्तौ विषादनम्।।२।५।४।।

जुगुप्सान्वितं तदेव विभीषिका स्यात्।।२।५।५।।

विरूपीकरणं व्यङ्गम्।। विडम्बना वा।।२।५।६।।

कुतूहलं तु कौतुकम्।।२।५।७।।

जीवनेच्छा जिजीविषा।।२।५।८।।

आत्मनोऽनुभवस्त्वहङ्कारः।।२।५।९।।

पूर्वानुभूतस्य पुनरुन्मीलनं स्मृतिः।। २।५।१०।।

जीवनस्य दर्शनं साक्ष्यम्।।२।५।११।।

जीवनस्य भव्यताया गरिम्ण उल्लास उदात्तम्।।२।५।१२।।

बाह्या अलङ्काराश्चतुर्विधाः, साकल्येन ते अष्टादश।।२।६।१।।

वस्तुनो रूपान्तरप्रतिपत्तिरन्यथा-करणम्।।२।६।२।।

जीवनगतसौन्दर्यस्य सङ्ग्रहस्तदन्यथा-करणं च च्छाया।।२।६।३।।

यथादृष्टस्य चित्रोपमनिरूपणं जातिः।। २।६।४।।

अतिशयो विशेषनिरूपणजनिता असाधारणता।।२।६।५।।

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मप्रतीति-र्विरोधः।।२।६।६।।

सङ्गतेरभावोऽसङ्गतिः।।२।६।७।।

अपह्नुतिर्निषेधेन स्थापना वस्तुतत्त्वस्य।। २।६।८।।

असमानः संयोगो विरूपकार्योत्पत्ति-र्विषमः।।२।६।९।।

अन्यायनिवारणाय युद्धप्रक्रिया द्वन्द्वम्।। २।६।१०।।

सामूहिके वैयक्तिके वा चित्ते द्वन्द्वोत्थं कर्षणं तानवम्।।२।६।११।।

द्वयो: साम्यपरिकल्पनोपमा।। २।६।१२।।

आरोपणाद् अध्यवसानाद् अन्यापदेशाद्वा रूपकम्।।२।६।१३।।

प्रख्यातवैशिष्ट्येनाप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य प्रातिनिध्यं प्रतीकम्।।२।६।१४।।

सम्भावनात्मिका कविकल्पनैवोत्प्रेक्षा।।२।६।१५।।

दीपनाद् दीपकम्।।२।६।१६।।

वर्ण्यानुरूपो नादविन्यासो नादानुवृत्ति:।। २।६।१७।।

एकस्य पदस्य अर्थभेदेन असकृत् प्रयोगो यमकम्।।२।६।१८।।

एकस्य पदस्य अनेकेष्वर्थेषु ग्रहणं श्लेष:।।२।६।१९।।

वर्ण्यविषयानुरूप: गति-यति-विन्यासो लय:।।२।६।२०।।

द्विविधं तत्। पाठ्यं दृश्यं च।।३।१।१।।

भाषार्थचमत्कृति-कविदृष्टि-बन्धरीतीन्द्रियाणि आधृत्य काव्यविधाविभाजनम्।। ३।१।२।।

पद्यात्मकं समग्रजीवननिरूपणपरं महाकाव्यम्। गीतैतिह्यपुराणलोककथा-भेदादस्य नानात्वम्।।३।१।३।।

जीवनस्यैकदेशनिरूपकं खण्डकाव्यम्।। ३।१।४।।

तदेवान्त्यानुप्रासध्रुवकान्वितं गीतम्।। ३।१।५।।

विविधै रागैर्गेयं ध्रुवकान्वितगीतियुतं रागकाव्यम्।।३।१।६।।

अनिबद्धं तु मुक्तकम्।।३।१।७।।

अन्त्यानुप्रासादिविहीनं परिमुक्तपैङ्गलं लयान्वितं काव्यं मुक्तच्छन्दम्।। ३।१।८।।

द्विपदिकाभिर्निबद्धा गीतिर्गजलमुच्यते।। ३।१।९।।

प्रदत्तपदावल्या: पूर्तौ समस्या।। ३।१।१०।।

विचारविशेषस्य भावविशेषस्य गद्येन बन्धो निबन्ध:।।३।१।११।।

जीवनस्यैकदेशनिरूपणपरमाख्यानं कथा।।३।१।१२।।

गद्यबद्ध उपन्यासो महाकाव्यमयी कथा।।३।१।१३।।

यथावृत्तस्य स्मृत्या आख्यानं संस्मरणम्।।३।१।१४।।

शब्दैर्घटनाया व्यक्ते: चित्रमिव निर्मितं रेखाचित्रम्।।३।१।१५।।

कस्यचिन्महापुरुषस्य प्रेरणाप्रदं चरित-निरूपणं जीवनचरितम्।।३।१।१६।।

जीवनचरितस्यैव प्रकारविशेष आत्म-कथा।।३।१।१७।।

यात्राया यथानुभूतं वर्णनं यात्रावृत्तम्।। ३।१।१८।।

दृश्यं तु रूपकम्।।३।१।१९।।

तच्च द्विविधम्-एकाङ्कं नाटकं च।। ३।१।२०।।

अनुक्रमः

काव्यस्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमाधिकरणम्

।। अथ काव्यलक्षणनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ।।

इह तावत् 'अलङ्कृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः। छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्'।। इति भगवतो व्यासस्य, 'काव्यबन्धास्तु कर्त्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' इति भरतमुनेः, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इति भामहस्य, 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डिनः, 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापी'ति मम्मटस्य चेत्थं प्राचां तानि तानि काव्यलक्षणानि परिशील्य काव्यलक्षणमिदं पुरस्क्रियते—

लोकानुकीर्तनं काव्यम्।।१।१।१।।

लोकशब्दस्तु लोकृ-धातोर्घञि प्रत्यये योजिते निष्पद्यते। लोकयति भासते लोकते पश्यति वा इति लोकः। तत्र यदेव भासते प्रकाशमायाति तल्लोक इत्येवार्थोऽत्र ज्यायान्। तेन 'लोको नाम जनपदवासी जनः। जनपदश्च देश एव'। इत्यभिनवभारत्यां (नाट्यशास्त्रस्य १३।६९-व्याख्याने) लोकधर्मिनिरूपणप्रसङ्गेऽभिनवगुप्तस्य, स्थावरजङ्गमात्मको लोक इति काव्यहेतुनिरूपणे मम्मटस्य च लक्षणे इह अग्राह्ये। लोक इति कथनेन न केवलं जन इति अपि तु चराचरं जगदपि गृह्यत एव। न केवलं स्थावरजङ्गमात्मकम्, अपि तु चेतनया विभाव्यमानं सकलमेव भुवनं लोक इति वक्तव्यम्। लोकोऽयं न स्थाणुः, न वा स्थिरोऽपि तु प्रतिक्षणं परिवर्तमानो विकसँश्च वरीवर्ति।

प्रसङ्गवशात् सीमितेऽर्थेऽपि लोकशब्दप्रयोगो भवत्येव। तद्यथाऽमरकोशेऽप्युक्तम्—लोकोऽयं भारतं वर्षम् (अ.को.२।१।६)। तेन भारतवर्षाद् बहिरपि लोके वर्ण्यमाणे नातिव्याप्तिर्मन्तव्या। कविना यद् दिव्येन आर्षेण चक्षुषा चर्मचक्षुषा वा साक्षात्क्रियते तदपि लोकः।

स च लोकस्त्रिविधः।।१।१।२।। आधिभौतिक आधिदैविक आध्यात्मिकश्च।।१।१।३।। अनुषक्तत्वं चैतेषां त्रयाणामपि।।१।१।४।। त्रयाणां च सकलः समुल्लासो जीवनम्।।१।१।५।। तच्च साहित्ये प्रतिफलति।।१।१।६।।

इदं पञ्चभूतात्मकं जगद् अन्तर्बाह्यकरणैरनुभूयमानं तावदाधिभौतिकम्। भूतेषु भवं, भूतसम्बन्धि वा अधिभूतम्। 'पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि आप औषधयो वनस्पतय आकाश आत्मा-इत्यधिभूतम्—इति तैत्तिरीयोपनिषदुक्तेः (तै.उ.१।७)। अस्मिन्नधिभूते भव आधिभौतिको लोकः। निखिलकाव्यकलादीनामयमेवाधारः। ऋतेऽमुष्मान्न मनुष्याणां कार्यव्यापाराः प्रवर्तेरन्निति। तद्यथाऽऽह भरतमुनिः—

कर्म शिल्पानि शास्त्राणि विचक्षणबलानि च।
सर्वाण्येतानि नश्यन्ति यदा लोकः प्रणश्यति।।

(ना.शा.२९।१२७)

आधिदैविकस्तु लोको मानससाक्षात्कारजनितः। देवानां मानसी सृष्टिरिति नाट्यशास्त्रोक्तेः (२।२२)। देवानां मनःसङ्कल्परूपत्वात्, प्राणरूपत्वाद्वा। इदमत्राकूतम्—यच्चर्मचक्षुषा यथा दरीदृश्यते तत्तथा न भवति। इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानमपि यद्यपि मनसि एव भवति; परन्तु भवति तत्र ज्ञानेन्द्रियव्यापारस्यैव प्राधान्यम्।

यत्तु मनसा ज्ञानेन्द्रियं प्रेरयता जनेन तत्सङ्कल्पद्वारेण वस्तुनो नवीनं रूपमवलोक्यते विरच्यते वा, तत्र विलसत्याधिदैविको लोकः। वस्तुमात्रस्य प्रतीयमानं स्वरूपमेव तस्यात्मा। तस्मिन्नात्मनि यत् स्यात् तदध्यात्मम्। अत एव वस्तुन आन्तरिकं रूपमेवाध्यात्मम्। यद्वा—अध्यात्ममिति क्रियाविशेषणम्। आत्मनि आत्मने आत्मन आत्मना वा अध्यात्मम्। आत्मसम्बन्धीत्यर्थः। इत्थं च लोकस्य त्रैविध्यमेतदणोरणीयांसं महतो महीयांसं च समस्तं तत्त्वजातं क्रोडीकुरुते। भवति चात्र परिकरश्लोकः—

आब्रह्मस्तम्बावधि लोकः प्रसृतः सनातनोऽक्षय्यः।
लोकाद् बहिर्न किञ्चिल्लोके सर्वं प्रतिष्ठितं च।।

ननु परमसत्ता या श्रुतौ वर्णिता अचक्षुरवाङ्मनसगोचरमित्यादि-कथनैः, सा तु सर्वथा अलौकिकी एवेति चेत्, तन्न। तत् सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति तत्रैवोक्तेः। यद् ब्रह्मेति समाम्नातं श्रुतौ, तदपि लोक एव, न लोकातिक्रान्तम्। अथ ये महायोगिनः—समाधिषु वयं परब्रह्मप्रमोदार्णवं साक्षात्कुर्म इति ख्यापयन्ति, तान् इदं पृच्छामः। तस्य परब्रह्मणः साक्षात्कारोऽत्रभवद्भिरस्मिन् लोके स्थित्वा क्रियते, अन्यत्र गत्वा वा? यदि अस्मिन् लोके स्थित्वा एव क्रियते तर्हि सिद्धमेव लोकान्तर्वर्तित्वं तस्य ब्रह्मणः। एतेन अलौकिकं वस्तु काव्ये वर्णयति कविरिति मतमपास्तम्। यल्लोके न भवति, तस्य काव्येऽप्यसम्भवात्। कथं तर्हि 'लोकोत्तीर्णेन रूपेणावस्थानमित्ययमेवालङ्कारभावः' इति (ध्वन्यालोकलोचने, पृ.४९९) अभिनवगुप्तस्य; लोकोत्तरचमत्कार-कारिवैचित्र्यसिद्धय इति (वक्रोक्तिजीविते, १।२) कुन्तकस्य; काव्यं लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेः कर्मेति मम्मटस्योक्तय इमा सङ्गच्छेरन्? वस्तुत एतासूक्तिषु लोक इति पदेन क्वचिदापाततो स्थिरमिति विभाव्यमानं वस्तुस्वरूपं वस्तुन आधिभौतिकं वा रूपमेव गृह्यते। इदमाधिभौतिकं रूपं भवत्येव काव्यस्याधारभूतम्; परन्तु न तन्निरूपण एव काव्यं पर्यवस्यति। तस्मिन् प्रतिष्ठितमपि काव्यं तदतिक्रामति। इदं तावत् काव्यस्यासाधारणत्वमसामान्यत्वं वा। अतश्च कारिकाया 'लोकोत्तर-चमत्कारकारिवैचित्र्यसिद्धय' इति पदं व्याचिख्यासुः कुन्तक आह—असामान्याह्लादविधायिविचित्रभावसम्पत्तय इति। काव्यस्य मानवजीवन-गतदैनन्दिनसामान्यकथनस्य च भवत्येव विशेषः। अयं विशेषः परिभाषितो भोजेनोक्तिलक्षणे—विशिष्टा भणितिर्या स्यादुक्तिं तां कवयो विदुरिति।

अमुमेव विशेषं प्रसिद्धिव्यतिक्रमं वा क्वचिदलौकिकत्वं कविताया आमनन्ति आचार्याः। अत एव भोजस्य लक्षणं रत्नशेखरष्टीकते—'प्रसिद्धिव्यतिरेकेण तु या काचित् कविप्रतिभया भणितिराकृष्यते सा

भवति लोकोत्तरा। तथा च प्रतिभाकृष्टतया चमत्कारित्वाद् गुणत्वम्। अत एव कवय इत्याह। कविसहृदयानामेव तादृशोक्तिपरिचयसम्भवात्'। (सरस्वती-कण्ठाभरणे, काव्यमालासं., पृ. ६०)।

भवतु नाम काव्यस्य माहात्म्यख्यापनाय तस्य लोकोत्तरत्व-निरूपणम्, तत्र च लोकशब्दस्य सङ्कुचितेऽर्थेऽपि ग्रहणम्; परन्तु लोकानुकीर्तनं काव्यमित्यस्मल्लक्षणे यो लोक उल्लिखितस्स तु त्रिलोकीमेव समावेशयति, न केवलमाधिभौतिकं जगत्।

एतेन त्रैकालिकत्वमपि सिध्यति कविताया:। यतो हि आधिभौतिकं जगत् प्रायो वर्तमानेनानुबद्धम्, इतरौ पुनराधिदैविकाध्यात्मिकौ लोकौ अतीतानागताभ्यां कालाभ्याम्।

त्रैविध्यं प्राप्तोऽयं लोको प्रतिक्षणं नवायमानो नित्यं परिस्पन्दमान: परिवर्तमानश्च काव्ये निरूपित आनन्त्यं धत्ते। उक्तमेवानन्दवर्धनेन—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते।
आनन्त्यमेव लोकस्य वाच्यस्यापि स्वभावत:।।

(ध्वन्यालोके, ४।७)

जङ्गम्यमानत्वाद् गतिशीलत्वाच्च लोकोऽयं जगदिति व्यपदिश्यते। तेनायं प्रतिक्षणं परिवर्तते, नवायते, आनन्त्यं च याति। तस्माच्चामुं लोकं जगद्वा विषयीकृत्य प्रवर्तमाना कविताऽपि यात्येवानन्त्यम्। पुनरपि युक्तमुक्तवानानन्दवर्धनाचार्य: काव्ये वस्तुगतिमधिकृत्य—

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नत:।
निबद्धा सा क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव।। (तत्रैव, ४।१०)

कस्मिंश्चित्काव्य आधिभौतिकजगत:, कस्मिंश्चिदाधिदैविकजगत:, कस्मिंश्चिच्चाध्यात्मिकजगतो भवति प्राधान्येन निरूपणम्; तथापि कालिदासस्य मालविकाग्निमित्रे आधिभौतिकमेव जगद् विशिष्य नाट्यायमानम्। कालिदासस्येतररूपकयो: प्राधान्येनाधिदैविकजगद् विलसति। योगिनोऽरविन्दस्य सावित्रीमहाकाव्ये आध्यात्मिकं जगत् प्राधान्येन कीर्तितम्। इत्थं काव्ये प्रसङ्गवशात् क्वचिदन्यतमस्त्रिषु लोकेषु निरूप्यते।

क्वचित्तु एकं द्वयं वा निराकृत्य अपरस्मिन्नवधानवान् प्रतिभाति कविर्न तत्र परमार्थत एकस्मिन् पक्षपातः। तथा हि मम प्रस्थान-लहर्याम्—

कामं करालं जगदस्मदीयं
कामं तथाऽवस्कर‌राशिजुष्टम्।
वासं तथाप्यत्र वरं तु मन्ये
स्वर्गाच्च संन्यासगतापवर्गात्।।
देवालयात् भक्तिसुखात् प्रभोर्वा
सायुज्यलाभात् किल ब्रह्मभावात्।
मन्ये वरं ते सविधे निवासं
क्लेशाकुलेऽस्मिन् जगति प्रकामम्।।

अत्र आधिभौतिकं जगद् विहाय संश्रितौ संन्यासापवर्गौ न वास्तविकौ, न तादृशौ संन्यासापवर्गौ काम्यावित्यभिप्रायः। अत आधिभौतिकतायामपि आधिदैविकाध्यात्मिकयोरवतरणमभिप्रेतं कवेर्न तयोर्निराकृतिः। वस्तुतः साहित्ये नैतेषु त्रिषु एकं विनाऽपरमवतिष्ठते। तेनैव पुरुषार्थसिद्धिः काव्येऽपि। आधिभौतिकेन अर्थस्य, आधिदैविकेन कामस्य, आध्यात्मिकेन च धर्मस्य मोक्षस्य च सिद्धिः। पुरुषार्थेष्वपि यो धर्मपूर्वकोऽर्थः कामो वा स एव वस्तुतोऽर्थः कामो वा, अर्थं विना कामं विना च न वस्तुतो धर्मः, धर्मार्थकामान् विना च कथं मोक्षावगतिरिरिति चत्वारोऽप्येते परस्परमनुषक्तास्तथैव साहित्ये आधिभौतिकाधि-दैविकाध्यात्मिकतत्त्वविलसितं समन्वितम्। अत एवोक्तम्—**अनुषक्तत्वं चैतेषां त्रयाणामिति।**

जीवनं तु पुरुषार्थचतुष्टयसमन्वितमेवाखण्डतां सम्पूर्णतां च धत्ते। तेनैव जीवनस्यालङ्कारः परिपूर्णता वा। तदुक्तं कालिदासेन—

स चतुर्धा बभौ व्यस्तः प्रसवः पृथिवीपतेः।
धर्मार्थकाममोक्षाणामवतार इवाङ्गभाक्।। (रघु., १०।८४)

एतेषामाधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकतत्त्वानां विकासः समुल्लासश्च जीवनम्। तच्च जीवनं समेषामेव सचेतनानां भवति। मनुष्यस्य तिरश्चां समूहस्य राष्ट्रस्य स्थावरजङ्गमानां समेषां भवत्येव जीवनम्। तेन त्रैविध्यम् अवस्थात्रितयात्मकं वा जीवनस्य। कदाचिज्जीवन आधिभौतिकः पक्षः प्राधान्येन स्फुरति, कदाचिदाधिदैविकः, कदाचिच्चाध्यात्मिकः। तच्च जीवनं साहित्ये शास्त्रेषु निरूप्यते महाकविभिः शास्त्रकारैश्च। अनुकीर्तनगतानां वक्ष्यमाणानां चतसृणामवस्थानां वैशिष्ट्यात् काव्ये तावदस्य जीवनस्य भवति क्वचित् प्रतिफलनं, क्वचिदुन्मीलनं, क्वचिद्विकासदृष्टिः, क्वचिच्च समुल्लासः। जीवनं कवेर्मतिदर्पणे प्रतिबिम्बितं भवति। यदुक्तं राजशेखरेण—मतिदर्पणे हि महाकवीनां विश्वं प्रतिफलतीति। परन्तु प्रतिबिम्बोऽयं न साधारणदर्पणगतप्रतिबिम्ब इव निर्जीवः। अतश्च न मिथ्या, न प्रातिभासिको, न व्यावहारिकोऽपि तु परमार्थतः सत्य एव। साहित्ये प्रतिफलितं जीवनमपि न कस्याश्चन एकस्या व्यक्तेः, न वा केवलं धीरोदात्तानां, नापि केवलं पौराणिकानाम् ऋषीणाम्। न केवलं व्यक्तेरपि तु समग्रस्य समाजस्य राष्ट्रस्यापि भवति जीवनम्। अत एव परमार्थदर्शनकारो नवदर्शनावतारो रामावतार आह—'जीवनं द्विविधम्, चिदात्मनो ज्ञानविज्ञानशक्तिद्वयत्वात्। तच्च व्यक्तिजीवनं सर्वात्मीयं जीवनं चे'ति (परमार्थदर्शने, पृ. २५३)। अस्मन्मते तु आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकभेदेन जीवनस्य त्रैविध्यम्, व्यक्तिगत-समाजगत-ब्रह्माण्डगतेति पुनश्च त्रैविध्यमित्यलं परकीयमतविमर्शेण। भवन्ति चात्र परिकरश्लोकाः—

साहित्ये जीवनं सर्वं सर्वाङ्गीणं नवं नवम्।
प्रतिबिम्बत्वमायाति समुल्लसति वर्धते।।

अद्भुतः प्रतिबिम्बोऽयं बिम्बमेव विभावयन्।
संस्कुर्वन् जीवनं तस्मिन् समवेतो नवायते।।

जीवने चास्ति साहित्यं साहित्ये जीवनं तथा।
परस्परकृता सिद्धिरनयोः सम्प्रवर्तते।।

तथा चाह यायावरीयो महाकवी राजशेखरः—कविवचनायत्ता च लोकयात्रा। सैव निःश्रेयसमूलमिति।

इत्थं लोकस्य स्वरूपं विशदीकृत्यानुकीर्तनं निरूपयति—

अनुकीर्तनं चतुर्विधम्।।१।१।७।। तेनास्य पूर्णता।।१।१।८।। पूर्णता चालङ्कारः।।१।१।९।। तेन अलङ्कार एव काव्यम्।।१।१।१०।।

तस्य लोकस्यानुकीर्तनं काव्यम्। अनु पश्चात् कीर्तनं कथनम्। तेन लोकस्य पूर्ववर्तित्वं, काव्यस्य पश्चाद्वर्तित्वं च नियतम्। अनुकीर्तनं शब्दैः पुनराविष्करणम्। शब्दाश्च भवन्ति सार्थाः। इत्थमनुकीर्तनमिति पदेन निर्दुष्टयोः सगुणयोः सालङ्कारयो रसाभिव्यञ्जकयोश्च शब्दार्थयोः सङ्ग्रहः। अनेनानुकीर्तनेन काव्ये पूर्णता आयाति, सैव अलङ्कारः। तत्स्वरूपं च द्वितीयाधिकरणे विशदं वक्ष्यामः।

अनून्मीलनम्, अनुदर्शनम्, अनुभवोऽनुव्याहरणं चेति चतस्रो दशा अस्यानुकीर्तनस्य भवन्ति। यद्धि लोक इति जीवनमिति वा निरूपितमुपरिष्टात् 'एतेषां त्रयाणामाधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकलोकानां सकलः समुल्लासो जीवन'मिति कथयता ग्रन्थकृता, तस्य कवयितुर्मानसे प्रथम उन्मेषो नामानून्मीलनम्। उन्मिषितायास्तस्याः कवयित्रा स्वान्तश्चेतसि दर्शनमेवानुदर्शनम्। अनुदृष्टायास्तस्या वर्णनाय वस्तुनो रूपस्य शब्दार्थयोर्वाऽऽविष्कारोऽनुभवः। अनुभूतायास्तस्याः स्फुटैः शब्दैर्गोचरीभवितुमर्हैः कथनमनुव्याहरणम्। अनुव्याहरणेन पद्यात्मकत्वेन वैखरीरूपमापद्यते काव्यम्। तद्यथोक्तमादिकविना रामायणे—'सोऽनुव्याहरणाद् भूयः शोकः श्लोकत्वमागतः'। इति।

इदमेवानुकीर्तनम् ऐतरेयमहीदासो अनुकृतिमित्याह। तन्मतेन सर्वाणि शिल्पानि अनुकृतिरूपाणि। तानि पुनर्द्विविधानि देवशिल्पमानुषशिल्पभेदेन। इदं समस्तं जगद् देवस्य ईश्वरस्य वा शिल्पम्। तदनुसृत्य विधीयमानं काव्यं, नाट्यादिकं मूर्ति-वास्तु-चित्रादिकं वा मानुषं शिल्पम्। एतेषु सर्वविधशिल्पेषु अनुकृतिर्मूलं तत्त्वमित्याह महर्षिर्महीदास ऐतरेयब्राह्मणे। एतच्च छायालङ्कारविचारे पुनर्विचारयिष्यामः। भवति चात्र श्लोकः—

समस्तानां कलानां वै काव्यानां च तथा ध्रुवम्।
अलङ्कारक्रियायाश्च मूलं साऽनुकृतिर्मता।।

वाचो निरूपणे एतान्येव चत्वारि चरणानि वैयाकरणैः परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरीति निगदितानि। तथा चाह श्रुतिरपि—

चत्वारि वाक् परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणीङ्गिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति।।
(ऋग्वेदे, १।१६४।४५)

भट्टतौतस्तु दर्शनं वर्णनं चेति द्विविधां काव्यरचनाप्रक्रियामाह—

नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्।
स तत्त्वदर्शनादेव शास्त्रेषु पठितः कविः।।
विचित्रभावधर्मांशतत्त्वप्रख्या च दर्शनम्।।

दर्शनाद् वर्णनाच्चाथ लोके रूढा कविश्रुतिः।
नोदिता कविता तावद् यावज्जाता न वर्णना।।

दर्शनवर्णनयोर्द्वयी वस्तुतोऽनून्मीलनानुदर्शनानुभवानुव्याहरणानां चतुष्टयीं विना न प्रवर्तते। तथा हि—उन्मीलितस्यैव तत्त्वस्य दर्शनम्। दृष्टस्य चानुभवः, अनुभूतस्य च कथनम्। एतेषां चतसृणामन्वितिमेव काव्यरचनाप्रक्रियां व्यपदिशन्त्याधुनिकाः।

एतेषामनून्मीलनानुदर्शनानुभवानुव्याहरणानां विनियोगात् समुल्लसितैराधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकलोकैः काव्यविश्वं पूर्णतां याति। अत उक्तम्—**तेनास्य पूर्णते**ति। **पूर्णता चालङ्कारः**। तेन वस्तुतोऽलङ्कार एव काव्यम्।

यत्तूक्तमनुत्तमकविनाऽभिराजराजेन्द्रमिश्रेण—'काव्यं तावत् स्वतः स्फूर्तं भावोच्छलनं किमपि। काव्यं न तावद्विमृश्य विमृश्य ध्यायं ध्यायं शास्त्रमिव सायासं लिख्यते। प्राक्पश्चाद्वर्त्याग्रहविनिर्मुक्तमिदं भावोच्छलनं स्वतः स्फूर्तत्वाल्लोकोत्तरत्वाच्च भवत्येव स्वभावजम्। नेदं शास्त्रप्रभृतिवाङ्मयान्तरमिव कृत्रिमप्रयत्नसाध्यम्'। इति, तदग्राह्यम्।

काव्यपदेन न केवलं पद्यबद्धम् आधुनिकैः कवितेति व्यपदिश्यमानं वाङ्मयम्, अपि तु गद्यात्मकं कथाख्यायिकादिकं सर्वमेवात्र गृहीतम्। अन्यच्च यदि नाम स्वतःस्फूर्तं भावोच्छलनमेव काव्यमिति कथितम्, तर्हि कथं भट्टिकाव्यादीनि काव्यतया उदाह्रियन्ते। उदाहृतानि च तानि भवतैव काव्यत्वेन अभिराजयशोभूषण इति।

अनून्मीलनानुदर्शनानुभवानुव्याहरणानां या प्रक्रिया मया विवेचिता, तत्र क्वचित् प्रथमं विचार उदेति अनन्तरं तदनुरूपं भावोच्छलनम्, क्वचिद्वा भावोच्छलनं तदनु तदनुसारेण विचारो वा शब्दार्थघटना वा। नाटकस्य उपन्यासस्य वा रचनायां प्रतिपात्रं यत्नमादधानः कविर्यदि विमृश्य पात्राणां संवादान् चरित्रविकासं वा न निरूपयेत्, तर्हि अव्यवस्थः स्यात् साहित्यसंसारः। मुक्तकादिषु कामं केवलं निरर्गलभावोच्छलनेनैव भवतु काव्यपूरणम्। अन्यच्च—बहवो मुक्तककवयोऽपि स्वतः स्फूर्तेन केवलेन भावोच्छलनेन काव्यरचना भवतीति न स्वीकुर्वन्ति। तथाऽऽह वर्ड्सवर्थकविः—काव्यं नाम स्वतः स्फूर्तानां भावानां स्फूर्तेरनन्तरं पुनःस्मरणमिति।

साहित्यस्याप्ययमेवाशयः। सम्-उपसर्गपूर्वकाद् धा-धातोर्निष्पद्यते साहित्यशब्दः। तद्यथा—'लुम्पेदवश्यमः कृत्ये तुङ्काममनसोरपि' इति नियमाद् हिततयोः प्राक् सम् इत्युपसर्गस्य मकारो लुप्यति। तेन सम्+हित इति संहितायां प्राप्तायां सन्ततशब्दो यथा सततत्वेन तथा संहित इति शब्द एव सहितत्वेन परिणमति। संहितत्वं नाम शब्दार्थयोरावापोद्वाप-समन्वितं सम्यगाधानम्। संहितत्वं सहितत्वं वा साहित्यम्। तेन च—तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं, बुद्धिविशेषविशेषत्वे वा साहित्यमिति शब्दशक्तिप्रकाशिकाया (९४तमस्य श्लोकस्य टीकायाम्, पृ. ११९) लक्षणमपि सङ्गच्छते, साहित्ये काव्ये वा सर्वथा एकान्वितेरिष्यमाणत्वात्। न्यायमञ्जरीकारोऽपि तुल्यवदेकक्रियान्वयित्वं साहित्यमित्याह। तच्च न्यायकोशकारः (पृ. १०१८) इत्थं व्याचष्टे—एककारकान्वयित्वेन तुल्ययोरेकजातीयक्रिययोरन्वयित्वमिति। एतेन च साहित्ये एकवाक्यत्वं महावाक्यत्वं च साध्यते। एतत्तु साहित्ये वस्तुरूपान्वितिविचारे महावाक्यविचारे च पुनः प्रतिपादयिष्यामः।

कुन्तकस्तु साहित्यशब्देन सहभाव इत्यर्थमेव जग्राह—'सहितौ सहितभावेन साहित्येनावस्थितौ' (व.जी., पृ.१०) इति कथयन्। परन्तु सोऽपि नायं सहभावः सामान्यः, विशिष्टमेव साहित्यमिहाभिप्रेतमिति स्वीकरोति। तच्च विशिष्टं साहित्यं कीदृशमिति निरूपयता तेनैवाभाणि—'वक्रताविचित्रगुणालङ्कारसम्पदां परस्परस्पर्धाधिरोह' इति (तत्रैव, पृ.१०)। शब्दार्थयोः सामान्यः सहभावस्तु प्रसिद्ध एव। अतश्चाह—'सहिताविति तावेव किमपूर्वं विधीयते'? (तत्रैव, १।१६)। अतोऽपूर्व एव सहभाव इह विवक्षितः। तत्कृते चापेक्ष्यते शब्दार्थयोरन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः। तद्यथाऽऽह—

साहित्यमनयोः शोभाशालितां प्रति काप्यसौ।
अन्यूनानतिरिक्तत्वमनोहारिण्यवस्थितिः।। (व.जी. १।१७)

अनयोः शब्दार्थयोरित्याशयः।

विद्यानिवासमिश्रास्तु—साहित्यं नाम विहितत्त्वं, प्रहितत्त्वं, पिहितत्त्वं, सन्निहितत्त्वं, निहितत्त्वमवहितत्त्वं वा; विधातुः सृष्टे रूपान्तरणाद् नवीनविधानकरणाद् वा विहितत्त्वम्, आच्छादनात् पिहितत्त्वम्, आत्मीयतया सन्निहितत्त्वं, सम्यग्विन्यासान् निहितत्त्वं, सम्प्रेषणात् प्रहितत्त्वं, समाधिनिष्ठतया रचयितुमर्हत्त्वादवहितत्त्वं चेत्याहुः।

इदमत्राकूतम्—विधातुः सृष्टेः समनन्तरं नवविधानदक्षयोर्यद्वा नूतनसृष्टिसमर्थयोः सम्प्रेषणार्हयोरावरणकल्पयोः शब्दार्थयोः समुचितो विन्यासः साहित्यं काव्यमिति वा। ननु कथं नाम सहितत्वं पिहितत्वमाच्छादकत्वमित्यपि कथितम्। काव्यं नाम किमाच्छादयति पिदधाति वा? वस्तुतः शब्दार्थयोर्विचित्रोऽत्र विन्यासो रक्षाकवच इव मानवं पापेभ्यस्त्रायते। इदमेवावरकत्वं पिधानं वा। तस्माच्च काव्यं छन्द इति समाम्नातम्। तद्यथोक्तं तैत्तिरीयारण्यके (२।५)—'छादयन्ति ह वा एवं छन्दांसि पापात्कर्मणः' इति। अन्यच्च क्वचिद् आधिव्याधि-प्रभृतिभौतिकतापेभ्यः क्षणं त्राणादपि आच्छादकत्वम्। तदुक्तं मम्मटेन—काव्यं शिवेतरक्षतय इति। वाचां परिस्पन्दो निवारयत्यमङ्गलम्। अतश्च यथात्मबोधाय तथात्मत्राणाय साहित्यं कल्प्यते। उक्तमेव

तैत्तिरीयसंहितायाम्—अग्निरूपात् प्रजापतेरात्मानं त्रातुं देवाश्छन्दांसि श्रितवन्त इति—'प्रजापतिरग्निमचिनुत, स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत्, तं देवा बिभ्यतो नोपायन्त छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम्' (तै.सं. ५।६।६।१)। छन्दस्तु सर्वत्रानुस्यूतं समेषां मानसे पिनद्धं किमपि तत्त्वम्। काव्येऽपि गद्ये वा पद्ये वाऽस्य व्याप्तिः, प्रतिशब्दं छन्दसो वर्तमानत्वात्। तद्यथोक्तं मुनिना भरतेन—'छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न च्छन्दः शब्दवर्जितम्' इति। अत एव समस्तं काव्यं छन्द इत्युच्यते, 'काव्यं छन्द' इति यजुर्वेदोक्तेः (१५।४)। अस्य च छन्दसो द्वैविध्यम् आभ्यन्तरबाह्यभेदात्। यदस्याभ्यन्तरं रूपं तत्तु समग्रां सृष्टिमभिव्याप्नोति। विद्यमाने तस्मिन् प्रबन्धेषु आन्तरिकी सङ्गतिः सम्भवति, तेन तेषु महावाक्यं निष्पद्यते। बाह्यं तु रूपं पिङ्गलादिशास्त्रेण निर्धार्यते। अविद्यमानेऽपि तस्मिन् क्वचिद् भवति छन्दसो निष्पत्तिः। उक्तमेव मयाऽप्यन्यत्र स्वकाव्ये—

त्रुटिते छन्दोबन्धे लययतिभङ्गे समं सञ्जाते।
किमपि किमपि यद् रचितं तदपि तदपि समजनि च्छन्दः।।

छन्द इति कथनाद् निबद्धत्वं स्वच्छन्दत्वं चेत्युभयमपि द्योत्यते। छन्द इव छन्दस् इति शब्दस्यापि अभिलाषे स्वैराचारे च प्रयोगात्।

यत्तु साहित्यं नाम दर्पणस्समाजस्येत्युक्तं तच्चिन्त्यम्। दर्पणे बाह्यं रूपं यथावत् प्रतिबिम्बितं भवति। साहित्ये काव्ये वा केवलं समाजस्य लोकस्य वा बाह्यं रूपमेव न निरूप्यते। यत्तु सूक्ष्ममाभ्यन्तरं वा तस्य रूपं तदपि भवति तत्र चित्रितम्। यदि तु साहित्यं लोकस्य आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकानां त्रयाणामेव दर्पण इत्याशयेन तस्यादर्शत्वं निरूप्यते, तदा न दोषः। एतच्चास्माभिरप्यूरीकृतमेवोपरिष्टात् १।१।६ इति सूत्रस्य व्याख्याने, लोकत्रितयसमुल्लासभूतजीवनस्य प्रतिफलनं कथं भवति साहित्य इति प्रतिपादयद्भिः। अभिनवगुप्तस्य मतेन कविप्रतिभा भित्तिभूता, तस्यां तर्पण इव निखिलं जगत् प्रतिबिम्बितं भवति—

भासा नाम च प्रतिभा महती सर्वगर्भिणी।
स्वस्वभावशिवैकात्मदेशिकात्मकचिन्मयी।।
यस्यां हि भित्तिभूतायां मातृमेयात्मकं जगत्।
प्रतिबिम्बतया भाति नगरादिव दर्पणे।।
(महार्थमञ्जर्याम्, पृ. १०५)

इदं च प्रतिबिम्बितं जगत् कविप्रतिभामनून्मीलयत्यनुपश्यत्यनुभवत्यनुव्याहरति च।

ननु आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकेति त्रिविधो लोक उक्तः। अस्मिन्नेव लोके अवस्थितः कवी रचयति काव्यम्। यच्चासौ रचयति काव्यं तदपि लोक एव। न तल्लोकातिगम्; अपि तु लोकान्तर्वर्त्येव। कथं तर्हि लोकानुकीर्तनं काव्यमिति लक्षणं सङ्गच्छते? दर्शने द्रष्टृदृश्ययोरिवानुकीर्तने कीर्तनकर्तृकीर्त्यमानयोर्भेदेनावश्यं भाव्यम्। काव्यमपि लोकः, कथं तर्हि लोकेन लोकस्यैवानुकीर्तनं क्रियेत? अत्रोच्यते—भवतु नाम आत्मनैवात्मनोऽनुकीर्तनं काव्यम्। यथा आत्मानमात्मनैवोद्धरति, आत्मानमात्मना वाऽऽविष्करोति नियमयति च सचेतनस्तथैव लोको लोकान्तर्वर्तिनैव काव्येनात्मानमाविष्करोति, नियमयति च। उक्तमेव राजशेखरेण—कविवचनायत्ता लोकयात्रा, सा च निःश्रेयसमूलमिति। काव्यं लोकस्यैव विशिष्टं रूपम्। अनेन विशिष्टरूपेण सामान्यं स्वकीयं रूपं लोकः परिमार्जयति पुनराविष्करोति चेत्यपि शक्यते वक्तुम्।

लोकानुकीर्तनं काव्यमित्यवोचाम। लोके च शिवशिवेतरयोः शुभाशुभयोर्वा भवति युगपदुपस्थितिः। तत्र काव्यं तु शिवं शुभं च पुरस्करोति, नाशिवमशुभं वा। यच्च शिवं रूपं लोकस्य तत् सहजं कृत्रिमं वा। यदशिवं तत्तु कृत्रिममसहजमस्वाभाविकम्। यदि नामाशिवस्यापि निरूपणं करोति कविस्तदपि तस्याशिवस्य निरासाय। यावदशिवं पापं वा न परिचीयेत, तावत् तस्य निरासोऽपि कथं स्यात्?

अतश्च लोकस्य शिवं सत्यं सहजमकृत्रिमं वा रूपं निरूपणीयमिति काव्यस्य प्रतिज्ञा। अयं च लोकस्वभावः। लोकस्वभावचित्रणमेव

काव्यस्वभावः। एतच्च चित्रणं काव्ये स्वभावोक्तिं जातिं वा जनयति। तच्च जात्यलङ्कारविचारे पुनः प्रतिपादयिष्यामः।

तद्यथाऽऽहाभिनवगुप्तः—'काव्ये च लोकनाट्यधर्मिस्थानीये स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरौजस्विशब्दसामर्थ्य-समर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव रसवार्ता'। इति। (ध्वन्यालोक-लोचने २।४-वृत्तौ)। तथा च—

'यदा कविर्यथावृत्तवस्तुमात्रं वर्णयति नटश्च प्रयुङ्क्ते, न तु स्वबुद्धिकृतं रञ्जनावैचित्र्यं तत्रानुप्रवेशयति, तदा तावान् स काव्यभागः प्रयोगभागश्च लोकधर्माश्रयस्तत्र धर्मी। काव्यनाट्ययोर्हि लोकानुसारित्वं वैचित्र्ययोगित्वं वा धर्मः'। (नाट्यशास्त्रस्य १३।७१-७२ इत्युपरि अभिनवभारती)।

ननु लोकानुकीर्तनं काव्यमिति लक्षणं कृतम्, इदं च लक्षणं 'अलङ्कृतं शुभैः शब्दैः समयैर्दिव्यमानुषैः। छन्दोवृत्तैश्च विविधैरन्वितं विदुषां प्रियम्'।। इति भगवतो व्यासस्य, 'काव्यबन्धास्तु कर्तव्याः षट्त्रिंशल्लक्षणान्विताः' इति भरतमुनेः, 'शब्दार्थौ सहितौ काव्यम्' इति भामहस्य, 'शरीरं तावदिष्टार्थव्यवच्छिन्ना पदावली' इति दण्डिनः, 'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वापी'ति मम्मटस्य लक्षणैः सङ्गच्छत इति विकत्थनं तु मुधैव, यतस्तामेव सङ्गतिं न पश्याम इति चेदुच्यते। लोकानुकीर्तनमित्युक्ते एतेषां समेषामेव लक्षणानां सङ्ग्रहो भवति। अनुकीर्तनेन शब्दार्थयोः साहित्यस्य लोकेन च भरतमुनिनिर्दिष्टकाव्यलक्षणानाम्। भरतमुनिस्तावत् षट्त्रिंशल्लक्षणानि काव्यस्य प्रतिपादितवान्। तान्यपि लक्षणानि श्रुतिसम्मतानि। यतो हि मन्त्रब्राह्मणयोः स्वरूपं विमृशन् शबरस्वामी स्तुति-प्रलपित-परिदेवन-प्रैषान्वेषणादिलक्षणानि निर्दिशति तत्र। तान्येव काव्यलक्षणेषु मुनिनोरीकृतानि। तन्त्रवार्तिके मन्त्रलक्षण उक्तम्—

ऋषयोऽपि पदार्थानां नान्तं यान्ति पृथक्त्वशः।
लक्षणेन तु सिद्धान्तानामन्तं यान्ति विपश्चितः।

आशिषः स्तुतिसंख्ये च प्रलप्तं परिदेवितम्।
प्रैषान्वेषणपृष्टाख्यानुषङ्गप्रयोजिताः।
सामर्थ्यं चेति मन्त्राणां विस्तरः प्रायिको मतः।।
(तन्त्रवार्तिके मन्त्रलक्षणे)

तत्रैव च ब्राह्मणलक्षण उक्तम्—

हेतुर्निर्वचनं निन्दा प्रशंसा संशयो विधिः।
परक्रिया पुराकल्पो व्यवधारणकल्पना।।
उपमानं दशैवेते विधयो ब्राह्मणस्य तु।।

लोकवृत्तसङ्ग्रहस्यानुकीर्तनस्य च प्रकृष्टत्वमुत्कृष्टत्वमपकृष्टत्वं वा परिलक्ष्य उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अधमं चेति काव्यस्य, सिद्धः साधकः आभ्यासिको घटकश्चेति कवेः, तत्त्वाभिनिवेशी, विषयनिष्ठो विषयिनिष्ठो सतृणाभ्यवहारी चेति समीक्षकस्याचार्यस्य वा; साङ्कर्यं, संसृष्टिः, ईषत्स्पृष्टत्वमभावश्चेति शास्त्रसन्निवेशस्य कोटयो भवन्ति। भवति च परिकरश्लोकोऽत्र—

यथा कविस्तथा काव्यं तथा चापि समीक्षकः।
चातुर्विध्यं त्रयाणां च प्रत्येकं परिकल्पितम्।।

एतत्तु सविस्तरमग्रे दर्शयिष्यामः।

।।इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे प्रथमाधिकरणे काव्यलक्षणनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः।।

●

।। अथ काव्यप्रयोजननिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।

एवं काव्यलक्षणं विमृश्य काव्यप्रयोजनमिदानीं विचार्यते।

मुक्तिस्तस्य प्रयोजनम्।।१।२।१।। सृष्टेश्चेतनायास्त्रैविध्येन सा त्रिधा त्रिधा।।१।२।२।। अनुषक्तत्वं चासाम्।१।२।३।। मुक्तिश्चावरणभङ्गः।।१।२।४।। आवरणं च सङ्कुचितप्रमातृत्वम्।। १।२।५।। प्रमाता च कविः सहृदयश्च।।१।२।६।। तदीय-चैतन्यसङ्कोचः सङ्कुचितत्वम्।।१।२।७।।

तस्य काव्यस्य प्रयोजनं मुक्तिरेव, अन्येषां प्रयोजनानां तत्रैव गतार्थत्वाद् अकिञ्चित्करत्वाद्वा। सा च मुक्तिः सृष्टेस्त्रैविध्येन त्रिविधा, चेतनायास्त्रैविध्येन पुनस्त्रिविधा। अत उक्तम्—**सृष्टेश्चेतनायास्त्रैविध्येन सा त्रिधा त्रिधे**ति। सृष्टेस्त्रैविध्यमुक्तमेव, आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिक-भेदात्। तद्दृष्ट्या मुक्तिस्त्रिविधा—आधिभौतिकी, आधिदैविकी, आध्यात्मिकी चेति। आधिभौतिकदृशा सर्वे सुखिनो भवन्तु, सर्वे लभन्तां शरीरपोषणार्थं सम्यगन्नपानादिकम्, शरीररक्षायै उचितं भवनं वासांसि चेति आधिभौतिकी मुक्तिः। सर्वेषां जन्तूनां मानसिकी रुग्णता आधयो वा नश्यन्ताम्, मनांसि प्रसादमायान्तु, निष्कलुषानि च भवन्त्विति आधिदैविकी मुक्तिः। आत्मनि स्वरूपावस्थानं च आध्यात्मिकी मुक्तिः। एषा त्रिविधापि मुक्तिः काव्येन साहित्यसाधनया वा लभ्या। चेतनायास्त्रैविध्येनेयं मुक्तिः पुनस्त्रिविधा। तथा हि त्रिविधा भवति चेतना—व्यक्तिगता, समाजगता, ब्रह्माण्डगता च। तद्दृशा वैयक्तिकी, सामाजिकी ब्रह्माण्डीया च त्रिविधा मुक्तिः। एताः षड्विधा अपि मुक्तयः परस्परेणानुषक्ताः। अत उक्तम्—अनुषक्तत्वं चासाम्। यावत् सर्वे जना अन्नपानादिकमपेक्षितं न लभन्ते, तावत् कथं मानसिकीं शान्तिं त आप्नुयुः, कथमाध्यात्मिकमानन्दं वा प्राप्नुयुः? अत एव एकां मुक्तिं विना अन्या न भवति। व्यक्तिं विना समाजो नास्ति, समाजं विना व्यक्तिर्नास्ति, व्यक्तिं समाजं च विना विश्वं

नास्ति। अत एव केवलाया व्यक्तेर्मुक्तिर्न भवति। येऽप्याहुरमुकेन अमुकेन ऋषिणा मुक्तिरधिगता, तत्सर्वं प्रवादमात्रम्। न हि काऽपि व्यक्तिरिह अन्याभिर्व्यक्तिभिः पृथग्भूता। तस्मादेको व्यक्तिर्मुक्तिं लभेतान्यश्चामुक्तस्तिष्ठेदिति कथं सम्भाव्यते? याऽपि मुक्तिः स्यात् सा समेषामेव स्यात्। ननु काव्यस्य करणेन श्रवणेन पाठेन वा कथमन्नपानादिकं लभ्येत, किमर्थं च साध्या आधिभौतिकी मुक्तिः साहित्यस्येति चेन्न। साहित्यं मानवस्य समग्रं गरिमाणं प्रतिष्ठापयति, तत्रैव जागर्ति अभिप्रेरणा आकाङ्क्षा च समेषां कृते समानमन्नपानादिकं सामग्र्येण स्यादिति। तथाह श्रुतिः—

समानो मन्त्रः समितिः समानी समानं मनः सह चित्तमेषाम्।
समानं मन्त्रमभिमन्त्रये वः समानेन वो हविषा जुहोमि।।
समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति।।
(ऋ.सं. १०।१९१।३-४)

काव्यस्य श्रवणेन पाठेन नाट्यस्य विलोकनेन अन्यासां च कलानां प्रत्यक्षेण प्रमातुः सहृदयस्य चैतन्यमानन्त्यमुपयाति। अयमानन्त्यानुभव एव मुक्तिः। यदाहुः—तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्ग इति, तदसत्। न लोके केनाप्येतादृशः सुखदुःखेभ्य आत्यन्तिकः शाश्वतिको वा मोक्षो दृष्टः। काव्यानुभूतौ तु मुक्तेरनुभवः प्रत्यक्ष एव सचेतसाम्। काव्यं रचयित्वा कवेरपि मुक्तिः, भावयित्वा च सहृदयस्यापि। अत एवोक्तम्—प्रमाता कविः सहृदयश्च।

सनातनस्तु प्रयोजनं नास्ति काव्यस्य, चुङ्कृतौ कलविङ्कस्येवेति काव्यालङ्कारकारिकायाम्, तमनुहरन् अभिराजराजेन्द्रोऽपि 'व्यवहारदृष्ट्या यश एव काव्यप्रयोजनभूतं तिष्ठति, परमार्थदृष्ट्या तु काव्यप्रणयनं कवेः स्वतः स्फूर्तं स्वाभाविककर्ममात्रम्। स्वाभाविकं कर्म न भवति कथमपि प्रयोजनसापेक्षम्'—इत्याह। तत् चिन्त्यम्। यतो हि 'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्त आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्त्याह भगवती श्रुतिः'। अत एव काव्यकर्मणोऽपि आनन्दावाप्तिः प्रयोजनं ग्राह्यम्। यच्च विहगाः स्वत एव कूजन्तीति

दृष्टान्तितम्, तत्रापि विहगकूजनस्य स्वतस्त्वे वस्तुत आनन्दाधिगमः प्रयोजनम्। विहगानां तस्मिन्नेव मुक्तेरनुभवः। यदि तु—

न धनाय न पुण्याय व्यवहाराय नापि वा।
न च सद्यःसुखार्थाय काव्यं निर्मात्ययं कविः।।
वस्तुतस्तस्य कर्मैतत् संस्कारोत्थं स्वभावजम्।
यदकृत्वा क्षणं यावन्नासौ शमधिगच्छति।।
यथा नोत्पतितुं शक्तो भ्रमरो गुञ्जनाद् ऋते।
तथा कविरयं काव्यादृते शक्तो न जीवितुम्।।

इति यदुक्तम्, तदपि कवेर्भारस्य उत्कायमानताया वर्णनमेव, अहो भारो महान् कवेरिति भामहोक्तेः। तेन शमप्राप्तिरिति भारावतारणमिति वा प्रयोजनं स्वयमेवात्र प्रतिपादितं निष्प्रयोजनमूलकतावादिना। यतो हि भारस्य वा सिसृक्षाया वा उत्कायमानताया वा अपाकरणमपि प्रयोजनं गणनीयम्। प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्दोऽपि न प्रवर्तत इति न्यायात् तेनैव प्रयोजनेन प्रेरितः कविः कवयति। यदकृत्वा क्षणं यावन्नासौ शमधिगच्छतीत्युक्तेः शमावाप्तिरिह मुक्तिरेव।

प्रजापतिरिव कामजनितसंसारः काव्यसंसारं सृजति सर्जकः। अत एव यशोऽपि तस्य न प्रयोजनम्। ईश्वरः किं यशःकाम्यया सृष्टिं तनोति? अन्यच्च काव्यं विरच्य न सर्वे श्रेष्ठाः कवयः कीर्तिं लभन्ते। महाकवयस्तु कीर्तिप्रलोभनं परिहृत्यैव काव्यरचनायां प्रवर्तन्ते, तादृशस्य प्रयोजनस्य मनसि वर्तमानत्वेन काव्यरचनायामेव प्रत्यवायात्। तद्यथाऽऽह कालिदासः—

'मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्'।

अत्र मन्दः सन् कवियशःप्रार्थी च सन्नहमुपहास्यतां यास्याम्यत एव मन्देन कवियशःप्रार्थिना मया न भाव्यमिति यशःकामनायाः कविना निराकरणं व्यधायीति दिक्।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे प्रथमाधिकरणे काव्यप्रयोजननिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।

।। अथ काव्यकारणनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ।।

जागरिता प्रतिभा तस्य कारणम्।।१।३।१।।

तस्य काव्यस्य कारणं जागरिता प्रतिभा। जागरिता स्पन्दशीला। यद्यपि प्रतिभा सार्वजनीना, स्पन्दस्तु कविप्रतिभायाः स्वभावः। कविस्वभाव एव तत्प्रतिभा। स चायं कविस्वभावस्त्रिविधः—सुकुमारो, विचित्र उभयात्मकश्च। प्रतिभा द्विविधा भवति—संस्काररूपा, जागरिता च। संस्काररूपा प्रतिभा चिदंशभूता चराचरात्मके समस्तेऽपि जगति सर्वत्र व्याप्ता। इयं प्रतिभा अविचारितं व्यवहरन्ती सर्वेषु जन्तुषु विद्यमाना। युक्तमुक्तवान् वाक्यपदीयकारः—

उपश्लेषमिवार्थानां सा करोत्यविचारिता।
सार्वरूपमिवापन्ना विषयत्वेन वर्तते।।
साक्षाच्छब्देन जनितां भावनानुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्तते।।
प्राणत्वेन वा लोकः सर्वः समनुपश्यति।
समारम्भाः प्रतीयन्ते तिरश्चामपि यद्वशात्।

(वा.प. २।१४-१६)

काव्यघटनानुकूलशब्दार्थोपस्थितिर्जागरणम्। जागरणे च हेतवो भवन्ति—गुरूपदेशः, लोकशास्त्राद्यवेक्षणम्, काव्याभ्यासः, काव्यगोष्ठ्यः, सहृदयानां सङ्गतिः, प्रसङ्गविशेषो घटनाविशेषो वा।

क्वचित् सा कवित्वशक्तिरूपा तदनुकूलशब्दार्थादिज्ञानमभ्यासं च स्वत आत्मसात् करोति। क्वचित्तु प्रथमं प्रतिभया बीजभूतया काव्याङ्कुरोत्पत्तिः, व्युत्पत्त्या तस्य पूर्तिरभ्यासेन च तत्परिष्कारः। तद्यथाऽऽह कुन्तकः—

'कविचेतसि प्रथमं च प्रतिभाप्रतिभासमानमघटितपाषाण-शकलकल्पमणिप्रख्यमेव वस्तु विदग्धकविविरचितवक्रवाक्योपारूढं शाणोल्लीढमणिमनोहरतया तद्विदाह्लादकारिकाव्यत्वमधिरोहति'। (व.जी. १।७ वृत्तौ)।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे प्रथमाधिकरणे काव्यकारणनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः।।

।। अथ काव्यभेदनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।

चतुर्विधं तत्।।१।४।१।। उत्तमोत्तमम्, उत्तमम्, मध्यमम्, अवरञ्च।।१।४।२।। सर्वाङ्गीणं जीवनं निर्दिशत् महावाक्यं प्रथमम्, जीवनस्यैकदेशं निर्दिशद् द्वितीयम्, वस्तुविशेषं मनःस्थितिविशेषं वा प्रकाशयन्मध्यमम्, पदार्थमात्रपर्यवसितं त्ववरम्।।१।४।३।। नानादिक्कालावच्छिन्नानां वाक्यानां पुरुषार्थप्रवर्तकः समूहो महावाक्यम्।।१।४।४।।

तत्र कविगतसमाधिनिष्यन्दभूतं विविधविद्यावदातं सकलशास्त्रतत्त्व-समन्वितं जीवनस्य सर्वाङ्गीणं रूपं निर्दिशत् जगतो नानावस्थानां परिज्ञाने प्रमाणभूतमभिनवकल्पनाभिरामं काव्यमुत्तमोत्तमम्।

महावाक्यत्वं जीवनस्य सर्वाङ्गीणस्वरूपनिरूपणपरत्वं चात्र विशिष्यते। किं नाम महावाक्यम्? वाक्योच्चयो महावाक्यमित्याह साहित्यदर्पणकारः। तत्र यथा वाक्ये अर्थैकत्वं तथैव वाक्यानां समुच्चयेऽपि एकवाक्यतायां सत्यां महावाक्यं जायते। प्रबन्धे तु तेषु तेषु सर्वेषु प्रकरणेषु वा प्रयुक्तान्यपि वाक्यानि एकवाक्यतां साधयन्ति। तद्यथाऽऽह पतञ्जलिः—विदेशस्थमपि सद् एकं वाक्यं भवति, तेन शाखान्तरोक्तानामपि प्रधानवाक्येन समभिव्यवहारः।

एकवाक्यता द्विधा—पदैकवाक्यता वाक्यैकवाक्यता च। यथा वाक्यस्य विभिन्नेषु पदेषु अङ्गाङ्गिभावो गुणगुणिभावः शेषशेषिभाव उपकार्योपकारकभावो विशेषणविशेष्यभावो वा भवति, तथैव महावाक्यस्य तेषु तेषु वाक्येष्वपि। उक्तमेव कुमारिलभट्टेन—

स्वार्थावबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहत्य जायते।।

अथवा वेदान्तदृशा—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्तिश्च लिङ्गतात्पर्यनिर्णये।।

इत्युक्तदिशा उपक्रमोपसंहारौ, अभ्यासः अपूर्वता, फलं प्रयोजनं वा, अर्थवाद उपपत्तिश्चेति षट् हेतव एकवाक्यतासाधका निर्दिष्टाः।

अथवा यथा चतुरङ्गसैन्ये रथसैन्य-हस्तिसैन्याश्वसैन्य-पदातिसैन्यानि संहत्य एकीभावमापन्नानि जयश्रियोऽवाप्तये व्यूहन्ते सन्नह्यन्ते वा, तथैव महावाक्यगतानि वाक्यानि। तत्तत्प्रकरणादिषु वाक्यानां समुच्चया अपि मिलित्वा प्रबन्धस्यैकवाक्यतां निर्मान्ति, यथा युद्धे सैन्यानां नानाव्यूहाः परस्परं सन्नह्यन्ते। अतश्च माघेन कृष्णशिशुपालयुद्धवर्णने श्लोकैर्यथा महावाक्यं तथैव व्यूहैः श्रीकृष्णसैन्यमिति उपमा साधु प्रायोजि—

श्लोकैरिव महावाक्यं व्यूहैस्तदभवद् बलम्।

यथा बले सैन्ये वा विविधा व्यूहा परस्परं सन्नह्य एकीभूय वा विजयरूपं पुरुषार्थं साधयन्ति, तथैव महावाक्येऽपि नानावाक्यानि एकवाक्यतायां सन्नह्य पुरुषार्थं साधयन्ति। तानि च नानावाक्यानि भवन्ति तत्तद्दिक्कालसंश्लिष्टानि। नानादिक्कालावच्छिन्नत्वेऽपि तेषामखण्डकाले पर्यवसितिरिति महावाक्यनिकषः। तेन नानादिक्कालावच्छिन्नानां वाक्यानां पुरुषार्थप्रवर्तकः समूहो महावाक्यमिति महावाक्यलक्षणं सूत्र उक्तम्।

नानावाक्यानि व्यष्टिगतानि तेषां समुच्चयश्च समष्टिं समुन्मीलयति। भवितुमर्हन्ति च एतेषु नानावाक्येषु पृथक् पृथग् अलङ्काराः। ते सर्वेऽप्यलङ्काराः सम्भूय काव्यस्य अलङ्कारत्वं साधयन्ति। एतच्च महालङ्कारत्वं काव्यस्य। भवति चात्र श्लोकः—

नानालङ्कारसम्मर्दो महालङ्कृतये भवेत्।
महावाक्यं लसेत् काव्यमेकवाक्यतयान्वितम्।।
सम्मर्दो वा व्यतिकरः सम्भेदः सम्प्लवोऽथवा।
अलङ्कारविशेषाणां काव्ये तावदपेक्ष्यते।।

इदमत्राकूतम्—काव्ये निष्पाद्यमानस्य अलङ्कारस्य तावद् द्वैविध्यम्, सामान्य-विशेषभेदात्। अलङ्कारसामान्यं तु सर्वव्यापि काव्ये सर्वत्रानुस्यूतं च। अलङ्कारविशेषास्तावद् विभिद्यन्ते। तद्दृशा एवेह उक्तम्—अलङ्कारसम्मर्दो महालङ्कृतये भवेदिति। न हि एकेनैवालङ्कारविशेषेण निष्पद्यते उत्तमकाव्यम्। वस्तुत एकस्मिन्नलङ्कारे प्रयुज्यमाने स्वतः परापतन्ति तत्सहचरभूता इतरे अलङ्काराः। तद्यथा स्मृतिं विना कथं प्रेमा, प्रेमाणं विना कथमाह्लादो वा इत्यग्रे प्रतिपादयिष्यामः। अत एव काव्ये अलङ्कारसम्मर्दः, अलङ्कारव्यतिकरः, अलङ्कारसम्भेदः, अलङ्कारसम्प्लवो वा सर्वथाऽपेक्ष्यते।

महावाक्ये जीवनस्य सर्वाङ्गीणं रूपं प्रतिफलति। जीवनं तु प्राग् व्याख्यातमेव 'त्रयाणामपि सकलः समुल्लासो जीवनम्' (१।१।५) इति सूत्रे। तेन—

महालङ्कारघटितं महावाक्यसमन्वितम्।
उत्तमोत्तमं भवेत् काव्यं पुरुषार्थप्रवर्तकम्।।

यथा रामायणं महाभारतं च। यथा वा—रघुवंश-शाकुन्तलोत्तररामचरितादीनि काव्यानि। वैदेशिके साहित्ये महाकवेः शेक्सपीयरस्य शोकान्तनाटकानि, टॉल्सटॉयकृतौ 'वार एण्ड पीस' इत्युपन्यासः, अन्ये चैवंविधाः प्रबन्धाः।

रघुवंशस्य महावाक्यत्वं पुरुषार्थाभिधायकत्वं च प्रतिपादयन्नाह अरुणगिरिनाथः—

'शिवयोरुपादानाच्च 'सर्वरसाश्रयत्वं सर्वपुरुषार्थहेतुत्वं यतस्तांवेवादौ रसाभिनयनं कुर्वाणौ नाट्यवेदं प्रवर्तितवन्तौ। पुरुषार्थहेतुत्वं च तयोः प्रसिद्धम्। अत्र दिलीपादिचरिते भूयसा धर्मस्य व्युत्पत्तिः, वीरश्च रसः। रघ्वादिचरितेऽर्थस्य तस्यैवान्त्याश्रमालम्बने मोक्षस्य, शान्तश्च रसः। अग्निवर्णचरितादौ कामस्य, शृङ्गारश्च। अजप्रलापादौ करुणरसः। तटाकावृत्तान्तादौ बीभत्सः। शूर्पणखावृत्तान्तादौ हास्यः। तद्दर्शनादौ सीताया भयानकः। जामदग्न्यवर्णने रौद्रः। मायासिंहेतिवृत्तादावद्भुतः।

'ननु विधिनिषेधावगतिहेतुर्महावाक्यं प्रबन्ध इति हि प्रबन्धलक्षणम्। अत्र च नानाफलान्तराणाम्, नानाराजचरितानामुपनिबन्धे कथमेकवाक्यता? अर्थैकत्वाद्ध्येकं वाक्यम्। उच्यते—अत्राप्येक एव वंशलक्षणोऽर्थ उपनिबद्धः। विधिनिषेधावगतिश्चैकं फलम्। यथा परिकथायामवान्तरवाक्यानां तु प्रबन्धायमानानां सन्धिसन्ध्यङ्गादिसर्वं निरूप्यमेव'।

महाकवीनां प्रबन्धेषु नानावाक्यानि तत्तत्प्रकरणगतान्यवकीर्णान्यपि सम्बध्यन्ते, अनुषज्यन्ते। अभिनवगुप्तेन समवकारनिरूपणे इदमवकीर्णत्वं सम्बद्धत्वं च साधु न्यरूपि—

'एवं महावाक्यार्थनिर्वाहहेतुसम्बद्धतैव सर्वस्य जायते। एवं हि सानुसन्धाना विततदृशोऽपि त्रिवर्गसिद्ध्युपायव्युत्पत्त्यनुगृहीता भवन्ति, निरनुसन्धानापि तावत् तावत् परिसमाप्त्या तावत्युपाये निजहृदयसंवादबलादिति। (नाट्यशास्त्रे-१८।६३-६६ इत्यत्र अभिनवभारती)। अत्र पारावारे तरङ्गभङ्गवत् शास्त्रं स्वत एवोच्छलति। एतच्च षष्ठेऽध्याये शास्त्रसङ्गतिविचारे पुनः प्रतिपादयिष्यामः।

जीवनस्यैकं पक्षं, शास्त्रैकदेशं च निर्दिशद् दशाविशेषं प्रसङ्गविशेषं च निरूपयत् कमनीयकल्पनाविलासमनोहरं काव्यमुत्तमम्। यथा—भारवि-माघ-श्रीहर्ष-रत्नाकर-प्रभृतीनां महाकाव्यानि। यथा वा हिन्दीभाषायां प्रसादकवेः कामायनीति महाकाव्यम्। सनातनकवे रेवाप्रसादस्य द्विवेदिन उत्तरसीताचरितम्, अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य जानकीजीवनमप्यत्र निदर्शने। पदार्थविशेषवैचित्र्यनिदर्शकं मनोदशामात्रप्रकाशकं वा काव्यं मध्यमम्। यथा—भल्लटप्रभृतीनामन्योक्तयः। क्वचिच्चेदं महावाक्यायमानमुत्तमकोटिमपि संस्पृशति। यथा अमरुककवेः 'लिखन्नास्ते भूमिमि'ति मुक्तकम्। तच्च तृतीयेऽधिकरणे मुक्तकलक्षणे मीमांसिष्यामहे। यथा वा ज्ञानकवेर्महाकालस्तुतौ—

भस्मोद्धूलनहेतवे तव महाकालेश्वर ब्रूहि तत्।
शिप्रारोधसि सञ्चिता मम चिता किं नोचिता स्यादिति।।

अत्र 'सञ्चिता चिता नोचिता' इत्यत्र यमकनिबन्धनपुरस्सरं या भक्तिभावना प्रकटीकृता सा जीवनमर्म परामृशन्ती आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकलोकत्रितयावतारं विदधाना महावाक्यायते। तेनात्र उत्तमं काव्यम्। अस्मिन्नुत्तमकाव्ये भोजनस्य पाके यथा नानाव्यञ्जनौषधयः कुशलेन सूदेन मिश्रिता आस्वादं जनयन्ति, तथैव विभिन्नशास्त्राणां निष्यन्दाः कविना सम्मेलिताः स्वदन्ते। तच्च षष्ठेऽध्याये शास्त्रसङ्गतिनिरूपणे प्रतिपादयिष्यामः।

शब्दाडम्बरसङ्कुलं प्रतिभादारिद्र्यदैन्याददतिस्वल्पसुभाषितं काव्यमवरम्। तच्च कस्यचिदेकस्य पदार्थस्य वस्तुनो वा वर्णने पर्यवस्यति। यथा—स्वच्छन्दोच्छलदच्छकच्छकुहरच्छातेतराम्बुच्छटादीनि पद्यानि मम्मटादिभिरुदाहृतानि। अत्रैवान्तर्भवन्त्यालेख्यप्रख्यानुकृतिपराणि अन्यच्छायायोनिकाव्यानि। यथा ममैव—

नमस्तुभ्यं नेतृवर्य यत्कण्ठः पुष्करायते।
मदाभोगघनध्वाने नीलकण्ठस्य ताण्डवे।।

अत्राधुनिकस्य नेतुर्विडम्बनार्थं प्राचीनश्लोके पदद्वयं परिवर्त्य परिहासो व्यधायि। अर्थविशेषसमुल्लासे सत्यप्येतादृशि काव्ये क्वचिद् वर्णसावर्ण्यरम्यताया आग्रहो भजते प्राधान्यम्। तथा तत्रैवाग्रे उक्तम्—

जटाधीश हठाधीश मठाधीश नमोऽस्तु ते।

अत्र धीश इति पदान्तव्यावृत्तिव्यामोहादेव कविना पदसन्निवेशो व्यधायि नार्थसमादरादिति एतादृशकाव्यानामवरत्वमेव। मन्दीभूतप्रतिभापरिस्पन्दानां व्युत्पत्तिप्रदर्शनपराणां नामावलीकीर्तनरतानां काव्यानामप्यवरत्वमेव।

मम्मटेन तु इदमुत्तममतिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः, अतादृशि गुणीभूतव्यङ्ग्यं व्यङ्ग्ये तु मध्यमम् इति उत्तममध्यमाधमकाव्यानि लक्षितानि। तत्सर्वं न क्षोदक्षमम्। यतो हि कस्मिंश्चित् काव्ये अतिशयिनो व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं वर्तते, तथापि न तत्र तथा चारुता यथा अन्यस्मिन् काव्ये सत्यपि वाच्ये प्रधाने भवितुमर्हति।

यथा भवतैव उदाहृते उत्तमकाव्यस्योदाहरणे निःशेषच्युतचन्दनस्तनतट इत्यादौ कीदृशी चारुता। त्वं तस्याधमस्य सकाशं रन्तुं गता न स्नातुमिति रण्डाचरितप्रकाशनतज्जनितपरिदेवनमात्रपर्यवसायि तत्र व्यङ्ग्यम्। तदपेक्षया अतिशयमनोहरा हरस्तु किञ्चित् परिलुप्तधैर्येत्यादयो महतां महच्चरितप्रकाशनपरा वाच्यव्यङ्ग्योभयसौन्दर्ययोः परस्परस्पर्धाधिरोह-परिपूर्णाः काव्यबन्धास्तु केवलं नात्र व्यङ्ग्यमतिशायीति मत्वा मध्यमकुक्षौ निपात्यन्त इति कीदृशोऽयं ध्वनिडम्बरः। तस्माद् व्यङ्ग्यस्य प्राधान्यं काव्यस्योत्तमत्वनिर्धारणे न मानदण्डो भवितुमर्हति। एतच्च पुनः शब्दवृत्तिविचारे प्रतिपादयिष्याम इति आस्तां तावत्। भवन्ति चात्र परिकरश्लोकाः—

अङ्गाङ्गिभावः प्राधान्यमेकस्याऽन्यस्य लाघवम्।
काव्यस्योत्तमतां ज्ञातुं न प्रामाण्यमर्हति।।

उत्तमोत्तममादौ स्यादुत्तमं तदनन्तरम्।
मध्यमं चावरं चैवमित्थं काव्यं चतुर्विधम्।।

सिद्धश्च साधकश्चैव ह्याभ्यासिकस्तथाऽवरः।
काव्यभेदानुसारेण कवयोऽपि चतुर्विधाः।।

रचनाप्रवृत्तिदृष्ट्या तत् सूक्ष्मरूपेण भिद्यते।
पौरुषेयं तथा चैवापौरुषेयमथो द्विधा।।

काव्यं द्विविधं पौरुषेयमपौरुषेयञ्च। अपौरुषेयं तु साक्षात्क्रियमाणं न पुरुषायासजन्यम्। यथा—वेदाः। पौरुषेयं पुनः नवनवोन्मेषशालि-प्रज्ञाप्रभावग्रथितं लोकोत्तरवर्णनानिपुणस्य कवेः कर्म। यद्यपि अपौरुषेयकाव्येऽपि यावन्न साक्षात्क्रियमाणं वस्तु अभिव्यनक्ति ऋषि-कविस्तावन्न जायते रचनायाः सामग्र्यमिति तत्रापि पौरुषेयत्वमापतत्येव। तथैव च ऋषिकल्पानां कालिदासादीनां कृतिष्वपि दर्शनं क्रियमाणमेव काव्यमुपजनयति न सामान्यजनवच्चेष्टया तन्निर्माणमिति तत्रापौरुषेयत्व-मेवाङ्गीकार्यम्। स्वकीयकाव्यस्य पौरुषेयत्वं प्रतिपादयन्तः स्वयमेव ऋषय आहुः—सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत, रथं न

धीरा स्वपा अतक्षाम, वस्त्रेण भद्रा सुकृता इति ऋग्वेदे। अतश्च ऋषयोऽपि मन्त्रदर्शने प्रज्ञाया प्रभावं मानसिकसृष्टेः सामर्थ्यं चोरीकुर्वन्ति। तथापि प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायेन यत्र साक्षात्कारस्य प्राधान्यम्, आयासस्य च गौणत्वं तत्रापौरुषेयत्वम्, यत्र च प्रज्ञाया प्रभावस्य प्रधानता, तत्र पौरुषेयं काव्यमिति व्यपदेशः। काव्ये च क्वचित् कविहृदयविकस्वरभास्वरप्रतिभासमुन्मेषविहितदर्शनेन तेषां तेषामनुभवानां स्वतः समुन्मीलनाद् अपौरुषेयत्वस्य तथैव च शिक्षाभ्यासजनित-रचनापाटवस्य च समं समावेशात् पौरुषेयत्वापौरुषेयत्वयोर्मणि-काञ्चनयोगोऽपि जायते।

चतुर्विधकाव्यानुसारि चातुर्विध्यमुक्तं कवीनाम्—उत्तमोत्तमं कवयन् सिद्धः, उत्तमं कवयन् साधकः, मध्यमं कवयन्नाभ्यासिकोऽवरं च कुर्वाणो घटकः। भवति चैषां चतुर्विधानां कवीनां तासु तासु विधासु रचनाभिनिवेशः। तद्यथा—नाटक-प्रकरण-महाकाव्य-कथाऽऽख्यायिका-बृहत्कथोपन्यासादिषु काव्यविधासु सिद्धकवीनां कर्तृत्वं यथा स्वारस्यं साधयति न तथेतरेषाम्। खण्डकाव्य-सङ्घात-कुलक-प्रहसन-भाण-व्यायोग-समवकार-डिमेहामृगाङ्कवीथी-नव्यैकाङ्कादिरूपकेषु भवति साधक-कवीनां गतिः। मुक्तकेऽर्थचित्रे सविशेषं प्रगल्भन्त आभ्यासिकाः। घटकास्तु क्वचिद् विवरणबहुलं सूचीनिबन्धनमात्रपराहतं यमकानुप्रासविन्यास-रम्यमप्यर्थसौन्दर्यविरहितं खड्गबन्धादिविचित्रचमत्कृतिमात्रप्रदर्शकं काव्यं निबध्नन्ति।

एकस्मिन्नेव कवौ क्वचिदुत्तमोत्तमत्वं काव्यत्वं क्वचिदुत्तमत्वं क्वचिन्मध्यमत्वमवरत्वं वा जलप्रवाह इव सम्मिश्रितं एकैकशो वा दृश्यते। एक एव कविरादौ घटकः परस्तादाभ्यासिकोऽनन्तरं साधकः परिणतौ च प्राप्तप्रतिभाप्रकर्षः सिद्धोऽपि स्यात्। न वाल्मीकिव्यासादय इव सिद्धा एव भवन्ति सर्वे कवयः। तथा हि कविकुलगुरोः ऋतुसंहारे आभ्यासिकस्य कवेः रचनाकौशलं समुन्मिषति। स एव कुमारसम्भवे मेघदूते च प्रतिभाया विकासं प्रकटीकुर्वन्नुत्तमकाव्यरचनया साधक-कोटिमवगाहते। अनन्तरं च रघुवंशे शाकुन्तले वा समुन्मीलितार्षचक्षुः अव्याहतप्रकाशितप्रातिभज्योतिः सिद्धकविपदं प्राप्नोति।

यायावरीयस्तु सारस्वताभ्यासिकोपदेशिकेति भेदेन त्रैविध्यं कवीनां परिकल्पयति। तदेतदरमणीयम्। त्रयाणामेतेषां कवीनामुपरिनिर्दिष्ट-चतुर्विधकविकोटिषु यथास्थानमन्तर्भाव:। उपदेशस्य च काव्य-करणेऽकिञ्चित्करत्वात् तद्विनापि सर्वथा काव्यप्रवृत्तेरौपदेशिक-कविकोटिर्न स्वतन्त्रतया परिकल्पनीया। यथाऽऽह धनञ्जय:—

आनन्दनिष्यन्दिषु रूपकेषु व्युत्पत्तिमात्रं फलमल्पबुद्धि:।
योऽपीतिहासादिवदाह साधुस्तस्मै नम: स्वादपराङ्मुखाय।।

परिकरश्लोकश्चात्र—

काव्यं किमहो शक्यमुपदेशशतैरपि।
यदि न प्रातिभं ज्योति: शब्दराशिं प्रकाशयेत्।।

अथ समीक्षकविचार: —

चतुर्विध: समीक्षक:—तत्त्वाभिनिवेशी, विषयनिष्ठ:, विषयिनिष्ठ:, सतृणाभ्यवहारी चेति।।१।४।५।।

तत्त्वाभिनिवेशी विषयनिष्ठो विषयिनिष्ठ: सतृणाभ्यवहारी चेति चतुर्विधा: समीक्षका:। ते प्रायो यथाक्रममुक्तचतुर्विधकाव्येषु कविचतुष्टये वा तत्तत्प्रकारविशेषसमीक्षणे विनिबद्धधियो भवन्ति। यद्यपि य: कोऽपि यं कमपि काव्यविशेषं कविविशेषं वा परिशीलयेदिति नात्रानैकान्तिकत्वम्, तथापि उत्तमोत्तमं काव्यं सिद्धकविकृतं तत्त्वाभिनिवेशी एव सम्यग् विवेचयितुं प्रभवति। तस्य तु सकलमपि परमार्थं काव्यगतं हस्तामलकवद् भवति। शास्त्रानुसारेण काव्यगतविषयविश्लेषणपुरस्सरं समीक्षमाणो विषयनिष्ठ: समीक्षक:। अयमाभ्यासिक:। अस्य खण्डकाव्यं मुक्तकं कुलकं सङ्घातं वा चित्रादिकाव्यं वा परिशीलयितुं भवति योग्यता। स च अत्रायमलङ्कार:, अयं गुण इति, इयं च रीतिरिति काव्यं परामृशति। तस्योत्तमोत्तमं काव्यं परिशीलयितुमपि न क्षमत्वम्, किन्तूत्तम-काव्यविवेचनेऽयं सविशेषं पटीयान्। स्वानुभूतिमनुसरन् य: काव्यसमीक्षायां प्रवर्तते, स विषयिनिष्ठ: समीक्षक:। स स्वविवेचने कविना हृदयसंवादमनुभवति तथानुभावयत्यपि। यथा—मेघदूतस्य

विद्युल्लताटीकायां पूर्णसरस्वती। सर्वविधं काव्यम्—'अहो अहो, साधु साधु' इति निगदन् यः श्लाघते स सतृणाभ्यवहारी समीक्षकः। नैतस्य विवेक्त्री सदसत्परीक्षणा धिषणेत्यमरः।

अत्रैवान्तर्भवन्ति भावकाः। अरोचकी सतृणाभ्यवहारी तत्त्वाभिनिवेशीति भेदाच्चतुर्धा भावक इति यायावरीयः। तन्न। अरोचकित्वं भावकत्वं चेति परस्परं विप्रतिषिद्धम्। एवमेव मत्सरित्वं भावकत्वमपि। अन्यच्च यस्य अरोचकित्वं मात्सर्यं वा बद्धमूलं, न तस्य काव्यभावनायां काव्यसमीक्षायां वाऽधिकारः। यदि तु अरोचकित्वं मात्सर्यं वा न बद्धमूलं तर्हि उत्तमोत्तमस्योत्तमस्य वा काव्यस्यावगाहनेन निर्धूतकल्मषो भावकतां प्रतिपद्येत, तदा समीक्षमाणस्यास्य यथाप्रवृत्ति तस्योक्तचतुर्विधसमीक्षककोटिषु यथायोग्यमन्तर्भावः स्यात्।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे प्रथमाधिकरणे काव्यादिभेदनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।

।। अथ शब्दव्यापारनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।।

शब्दस्यैको व्यापारस्तिस्रो वृत्तयश्च।।१।५।१।। ताश्च त्रिभिर्लोकैरन्विताः।।१।५।२।। वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्या अर्थाः।।१।५।३।। सर्वेष्वलङ्कारो व्याप्तः।।१।५।४।। एतैश्च शब्दार्थैः काव्ये रूपवस्तुसमवायः।।१।५।५।। स च त्रिविधः।।१।५।६।।

शब्दस्य वस्तुत एक एव अखण्डो व्यापारः। तेनैकेन सर्वे अर्था अवबुध्यन्ते, अर्थबोधकाले एतावानर्थो मया लक्षणया अतः परं च योऽर्थः स व्यञ्जनयाऽवगत इति पार्थक्यबुद्धेरभावात्। यच्च पृथक्करणं वृत्तिषु स्वीकृतं तदपि न पारमार्थिकम्। भवति चात्र श्लोकः—

शब्दस्यैकैव व्यापारः सङ्केत इति यो मतः।
वृत्तयस्तु त्रिधा तस्य लोकत्रयसमन्विताः।।

अभिधा-लक्षणा-व्यञ्जना इति तिस्रस्तस्य सङ्केतव्यापारस्य भेदाः। शब्दवृत्तय इति यावत्। ता अपि आधिभौतिकम्, आधिदैविकम्, आध्यात्मिकं च तत्त्वं समुन्मीलयन्ति। ताभिश्च वाच्य-लक्ष्य-व्यङ्ग्या अर्थाः प्रकाश्यन्ते। यथा आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकलोकानां समं समुपस्थितिः काव्ये काम्या तथैव एतेषां त्रयाणामर्थानामपि समवायः काव्यस्य श्रेष्ठतायाः साधकः। अङ्गाङ्गिभावः, उपकार्योपकारकभावः, परस्परस्पर्धाधिरोहश्चेति भवन्ति त्रयाणामपि अर्थानां परस्पर-सहभावस्यावस्थाः। तासु परस्परस्पर्धाधिरोहः श्रेयान्। तद्यथोक्तं मया स्वकीये शब्द इति काव्ये—

आकाशे त्वविनश्वरं विनिहितः शब्दो हि सन्तिष्ठते
शब्दः सम्प्लवते त्वपारजलधावर्थस्य नौकासमम्।
शब्दो मानसरोवरं ह्युडुपवन्मे मानसं गाहते
कृष्टज्ये धनुषि प्रधारितशरः शब्दश्च सन्धीयते।।

आदौ रिङ्गति चाभिधावसुमतीपृष्ठे स सङ्केतितं
प्राप्यार्थं रभसा विमुञ्चति धरां वृत्तिं श्रयंल्लक्षणाम्।
दीर्घाद् दीर्घतरं रयं प्रकटयन् व्यक्त्या प्रकृष्टः पुन-
र्व्योम्नोऽनन्तपथं प्रयाति सहजं शब्दो विमानप्रभः।।

अलङ्कारस्तु सर्वेषु अर्थेषु भवत्येव काव्ये। स तु काव्यस्य स्वो धर्मः। यथा अग्निर्न भवति औष्ण्येन विना, तथैव न स्यात् काव्यमलङ्कारं विना। उक्तमेव जयदेवेन—

अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दार्थावनलङ्कृती।
असौ न मन्यते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती।।

यथा अग्नौ उष्णता सदैव भवति; परन्तु क्वचिद् धूमावलीढत्वात् कान्तिमत्ता ज्वालानां विशालता चेत्यादयो विशेषा दृश्यन्ते वा न वेति, एवमेव द्विविधोऽलङ्कार इह काव्ये प्रोक्तः सामान्यो विशेषश्च। तत्र सामान्यस्तु एतेषु सर्वेषु वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यार्थेषु समं समुल्लसति। सर्वेषामेव चार्थानामलङ्कारत्वमिष्यते। तेन काव्ये रूपवस्तुसमवायो घटते। स च त्रिविधः। क्वचित् प्रथमं रूपस्यावतरणं भवति, तदनु तदनुरूपं वस्तु अवतरति। यथा चित्रे रेखाकृतिः प्रथमं निर्मीयते, तदनु तस्यां भावाधानं विधीयते। क्वचिद् वस्तु पूर्वं कवेः साहित्यकारस्य वा मानसे लसति, तस्याभिव्यक्तये समुचितां विधां पदावलीं चानन्तरं कल्पयति सः। यथा द्रव्ये वस्तुनि वा सति, तदनु तन्निधानाय पात्रमन्विष्य तस्मिंस्तत् स्थाप्यते। क्वचित्तु रूपं वस्तु च युगपद् रचनायां प्रादुर्भवतः। यथा गावः शृङ्गौ सममेव प्ररोहतः। भवन्ति चात्र श्लोकाः—

वाच्यं लक्ष्यं तथा व्यङ्ग्यं समं व्याप्यावतिष्ठते।
अतिशय्य तथा तांश्च काव्येऽलङ्कार एव सः।।

समं समविभक्ताङ्गः काव्यसर्वाङ्गसौष्ठवे।
काव्यं च सर्वतो वृत्वाऽलङ्कारश्च महीयते।।

विचित्र एव सम्बन्धो रूपेण सह वस्तुनः।
क्वचिद् रूपं जनिं याति रचनारम्भणे पुरः।।

यथा रेखासु वर्णानां विन्यासैराकृतिर्भवेत्।
तथा रूपे समुदिते विन्यस्तं वस्तु जायते।।

क्वचिद् वस्तु कवेः पूर्वं मानसे विद्यते पुरः।
तन्निधाने यथापात्रं रूपमस्याथ कल्प्यते।।

पात्रे श्लेषः। यथापात्रं यथायोग्यं, यद्वा पात्रं कथायामुपादीयमानं नायकादि। निधानार्थमुपात्तं पात्रमिव।

तिलतण्डुलवच्चापि गोशृङ्गसदृशोऽपरः।
नीरक्षीरसमश्चैव क्रमशो याति श्रेष्ठताम्।।

शब्देन चाप्यते रूपमर्थे वस्तु प्रतिष्ठितम्।
शब्दार्थौ लसतः काव्ये त्वर्धनारीश्वरोपमौ।।

वस्तुतस्तु परस्परस्पर्धारोहः परस्परोपकारित्वं परस्परस्पृहणीय-शोभत्वं चानयोर्ज्यायान्। तद्यथाह कुन्तकः—

समौ सर्वगुणौ सन्तो सुहृदाविव संस्थितौ।
परस्परस्य शोभायै शब्दार्थौ भवतो यथा।। (व.जी., पृ.१०)

परस्परस्पर्धाधिरोह इति कथनेन शब्दार्थयोर्द्वन्द्वात्मकः सम्बन्धः प्रकटीभवति। अनयोः परस्परं स्पृष्टुं, परस्परमभिभवितुमपि च प्रकृष्टताया प्रतिस्पर्धा जागर्ति। तेन च रचनाकाले कविरपि द्वन्द्वग्रस्तो भवति। एतच्च द्वन्द्वालङ्कारविमर्शे पुनर्विशदीकरिष्यते।

आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकसत्तानां पारस्परिकः सम्बन्धः पद-पदार्थवाक्यार्थानामिव वर्तते। वाक्यार्थ एव परमार्थः। पदं तु आधिभौतिकं रूपम्। पदार्थस्तेन बुध्यते। स च पदार्थो मानसिकबोधे पर्यवस्यन् परामृशत्याधिदैविकं तत्त्वम्। वाक्यार्थबोधे तु आध्यात्मिकी सत्ता समुन्मीलति।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे प्रथमाधिकरणे शब्दव्यापारनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।।

●

।। अथ शास्त्रसङ्गतिनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ।।

त्रिविधा शास्त्रसङ्क्रान्तिः। समवेता आरोपिता बलादानीता च।।१।६।१।। साङ्कर्यं, संसृष्टिः ईषत्स्पृष्टत्वमभावश्चेति चतस्रोऽवस्थाः शास्त्रावस्थानस्य।।१।६।२।।

इह तावत् काव्यानि चतुर्विधानि प्रोक्तानि। तत्रोत्तमोत्तमे उत्तमे च भवति शास्त्रसङ्गतिरित्यवोचाम। मध्यमेऽवरे चापि तानि तानि शास्त्राणि न भवन्ति विनिविष्टानि। किन्तु न तत्र शास्त्रोन्मीलनं सहजमकृत्रिमं वा। 'शास्त्रपूर्वकत्वात् काव्यानां पूर्वं शास्त्रेष्वभिनिविशे'दिति यायावरीयः। तन्न। न तावत् काव्यानां शास्त्रपूर्वकत्वम्, शास्त्राणामेव प्रत्युत काव्यपूर्वकत्वम्। विदितमेवापौरुषेयकाव्यमुपजीव्य समेषामपि षड्दर्शन-ग्रन्थानामायुर्वेदादिशास्त्राणां च प्रवर्तनमभवदिति। उत्तमोत्तमोत्तमकाव्ययोः प्रतिभासंरम्भपूर्वकत्वमेव ग्राह्यः। प्रतिभैव रचनायां प्रवर्तयति। रचनाकाले प्रातिभदृशैव शास्त्राणि यथावदुन्मीलन्ति सम्मिलन्ति काव्ये। तेषां तेषां शास्त्राणामभ्यासन्तु अन्तेवासिदशायां यथेतरे तथैव कवयोऽपि कुर्युः। परन्तु न तादृशशास्त्राभ्यासस्य काव्यकरणायाविनाभावित्वम्। श्रूयन्ते हि निरक्षरा विद्याध्ययनवर्जिता अपि महाकवयः। शास्त्रानुशीलनाभावेऽपि प्रतिभा क्वचित् यथाप्रसङ्गं काव्ये शास्त्राणि स्फोरयति। अत एव शास्त्रपूर्वकत्वं काव्यस्य न स्वीकुर्मः। ननु यथा मनुष्याणां कृते जीवनव्यवहाराय विधिनिषेधनिरूपणपराणि शास्त्राणि तथा कवीनां कृते काव्यकरणोपदेशपराणि काव्यशास्त्राणि कविशिक्षाग्रन्था वा तेषामनुशीलनेन काव्यं सम्भवतीति शास्त्रपूर्वकत्वं काव्यस्येति चेत्तदपि न। काव्यशास्त्रकविशिक्षादिग्रन्था एव महाकवीनां काव्यमुपजीव्य विरच्यन्ते। लक्षणग्रन्थानां लक्ष्याधृतत्वमेव। अत एव न शास्त्रपूर्वकत्वं काव्यस्य। शास्त्रस्य तावत् पश्चाद्वर्तित्वमेव।

राजशेखरस्तावत् शास्त्रकविः काव्यकविरुभयकविरिति त्रिधा कवित्वं विकल्पयति। तत्रापि शास्त्रकविमयं त्रिधा विभजति—यः शास्त्रं विधत्ते,

शास्त्रे काव्यं विधत्ते, योऽपि काव्ये शास्त्रार्थं संविधत्ते। सर्वमेतदग्राह्यमिति नो मतम्। यः शास्त्रं विधत्ते तस्य शास्त्रकार इत्येव संज्ञा न्याय्या, न कविरिति। काव्यकविरिति संज्ञापि नौचित्यमावहति। कविस्तु काव्यं कुर्यादेव, तत्र काव्यकविरिति कविभेदकथने किं नाम पौरुषम्? अपि नाम अकाव्यमपि कविः कुर्यात्?

शास्त्रेषु वैद्यकप्रभृतिषु क्वचिद् विनेयोन्मुखीकरणाय काव्य-सौन्दर्यमादधति ग्रन्थकाराः। न तेषां ग्रन्थानामेतेन शास्त्रकाव्यमिति व्यपदेशो युक्तः, न च ते ग्रन्थकारा कवय इति व्यपदेशार्हाः। ये पुनः काव्येषु स्वोपज्ञेषु प्रसङ्गविशेषवशाद् युक्तिप्रदर्शनप्रयोजनान्मध्ये मध्ये शास्त्रमुदाहरन्ति ते कवय एव न शास्त्रकाराः। यदि तु प्रतिभापरिदृष्ट-शास्त्रतत्त्वस्य काव्येषु सङ्क्रान्तत्वात् कालिदास-भवभूत्यादीनां पारदृश्वनां कवीनां कृतयः शास्त्रतुल्यास्ततोऽप्यधिकतरं गौरवास्पदं वा कथ्यन्ते, तेन चेमे महाकवयः शास्त्रकवय इत्युच्यन्ते, तदा त्वर्थवाद एषः।

तेन काव्यशास्त्रयोः परस्परमुपकार्योपकारकभावसम्बन्धः स्वीकार्यः। ननु यदि शास्त्रेषु अलङ्कारप्रयोगो भवति तर्हि कथं न तत्र काव्यत्वमिति चेत्, तन्न। न तावद् यथा गौस्तथा गवयो यथा माषस्तथा मुद्गपर्णीत्यादिकथनेषु भवति उपमालङ्कारः। ननु शास्त्रेषु सौन्दर्यानुभूतिसमन्विता अपि भवन्ति काव्यालङ्कारा इति चेत्, सत्यम्। दृश्यन्ते वेदादौ उपनिषत्स्वपि वा रमणीया अलङ्कारप्रयोगाः। 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषष्वजाथ' इति मन्त्र ऋग्वेदेऽस्यवामीयसूक्ते उपनिषदि चायाति। राजशेखरस्तु काव्यालङ्कारविज्ञानादेवैतादृश-मन्त्राणामर्थबोधस्तेन वेदस्याप्यध्ययनाय अलङ्कारशास्त्रस्यानुग्राहकत्वमिति मनुते। सत्यमेतत्। तथापि शासनात् शंसनाद्वा शास्त्रम्। यत्र शासनं शंसनं वा प्रधानं तत्र शास्त्रसंज्ञैवोचिता, न क्वचित् कस्यचिदलङ्कारस्य प्रयोगदर्शनात् काव्यसंज्ञा। नैतादृशालङ्कारप्रयोगेणालम्भावो निष्पद्यते जीवनस्य सकलसमुल्लासभूतः। द्विविधास्तावदलङ्कारा आभ्यन्तरा बाह्याश्चेति वक्ष्यामः। तत्र आभ्यन्तरालङ्काराणां प्रयोगेणालम्भावापादनम्। न तु केवलं बाह्यालङ्काराणां प्रयोगेण। यदि त्वमन्दप्रतिभापरिस्पन्देन

विकस्वरभास्वरहृदयसमुच्छलिताऽनुभूतयो शास्त्ररचनायां कवितायन्ते तदा काव्यमेव तत्। न तु सर्वे शास्त्रकारा एवं क्षमन्ते। दुर्लभेवेयं सिद्धिः। अत एव शास्त्रकारेभ्यः कवीनेव बहु मन्यामहे।

अथवा काव्यं स्वत एव प्रामाणिकम्, न परस्य कस्यापि दर्शनस्य शास्त्रस्य वा प्रामाण्यमपेक्षते, इति धिया काव्यं स्वत एव स्वस्य शास्त्रं वक्तुं शक्यते। तेन तु अन्यस्य कस्यापि शास्त्रस्य काव्ये समावेशो नानिवार्य इत्येव सिद्ध्यति। तथापि केचन कवयो भवन्ति अधीतिनो विद्वांसो वा। तेषामध्ययनं शास्त्रानुशीलनमपि यथावसरं तेषां काव्यरचनायां प्रतिफलति। एवमेव केचन मनीषिणः शास्त्रकाराः कवयश्च समं भवन्ति। यथा अभिनवगुप्तः। एतादृशानामाचार्यकवीनां शास्त्रग्रन्थेषु कवित्वं, काव्येषु च शास्त्रं मिश्रितं भवति। तत्रापि प्राधान्येन व्यपदेशः कार्यः। यथाऽभिनवगुप्तस्यैव परमार्थदर्शने सन्ति नाना कारिका अत्यन्तं रमणीयाः कवित्वप्रकर्षदृशा। तत्र निबद्धुः स्वारस्येन व्यपदेशो भवेत्। तद्यथा—कथा-दृष्टान्त-कारिकादिसंवलितं रामावतारशर्मणां परमार्थदर्शनं वस्तुतो दर्शनग्रन्थ एव। क्वचिच्च काव्ये श्रुतिशीलिततत्त्वानां नवाविष्कारो जायते। यथा हर्षदेवमाधवस्य प्रकाशोपनिषदि—

ते तपस्यन्ति/प्रकाशमन्वेष्टुम्/अहमाह्वयाम्यभिसाराय/प्रकाशम्/ते रचयन्ति प्रकाशस्य भाष्याणि/अहं स्पृशामि तम्/यथा त्वाम्/ते भित्तिषु बध्नन्ति प्रकाशाभासम्/तत्र जल्पन्ति किमपि/अहं निर्वस्त्रावस्थायाम्/तं बध्नामि मयि। (पृ. १२)

निवातो यथा दीपा भूत्वा/तम् अनुभवत्/तं तथा अनुभवत्/यथा/ असावपि युष्मान् अनुभवेत्। (पृ. १३)

अत्र आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति विज्ञातारं वा अरे केन विजानीयादित्यादि चोपनिषद्वचसां स्वानुभूतिसमन्विता कवेरभिव्यक्तिर्यथा जाता, तेन कविप्रतिभापरिस्पन्द एवानुभूयते, न शास्त्रच्छाया। अतः काव्यमेवैतत्, न शास्त्रम्। तत्त्वतस्तु काव्ये दर्शने च न कोऽपि भेदः। कविरपि द्रष्टा ऋषिर्वा, ऋषिरपि च भवति कविरेवेति पूर्वमवोचाम। परन्तु काव्ये दर्शनं शास्त्रं वा काव्यप्रक्रियान्तःपाति सदेव

आयाति तदङ्गीकार्यम्, अन्यथा तु बहिष्कार्यमेव। दर्शने शास्त्रे वा काव्यं परापततु नाम, तदपि दर्शनस्य शास्त्रस्य अङ्गभूतस्तत्प्रक्रियायां यथा घटेत तावदेव स्वीकार्यम्। क्वचित्तु शास्त्रं वैतत् काव्यं वैतदिति शास्त्रकारकौशलेन कविप्रतिभासंरम्भेन वा सचेतसामपि भ्रमो भवति। तथा हि—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्।।

अत्र जीवनस्य जगतो वा नश्वरताप्रतिपादने कवयितुः स्वारस्यम्। प्रसङ्गोपात्तमीदृशं पद्यं शास्त्रेऽपि भवितुमर्हति, काव्येऽपि। तस्मात् शास्त्रस्य समावेशः काव्ये कामं भवेत्, नापि वा भवेत्। यदि भवति तर्हि काव्यसमयान्तःपाती भूत्वैव भवेत्। काव्ये शास्त्रस्य सङ्क्रान्तिस्तावत् पारावारे तरङ्गभङ्गवत्, व्यञ्जने लवणवत्, वस्त्रे स्थगनवस्त्रवदिति त्रिधा। यत्र अगाधप्रतिभायत्तीकृतः समस्तः शास्त्रनिचयः स्वत एव यथावसरं काव्ये सङ्गमं विदधाति तत्र प्रथमा। मतिदर्पणे हि कवीनां विश्वं प्रतिफलतीति राजशेखरस्योक्तेः। शास्त्रतत्त्वनिःस्यन्दिनी क्वचिदावर्तबुद्बुदतरङ्गभङ्गिभिः प्रकटीभवति, यथा च पारावारादावर्तबुद्बुदतरङ्गादयो न पृथक् परिचेतुं निर्वक्तुं वा शक्यन्त एवमेव काव्येऽस्मिन् कतमः कीदृशः शास्त्र इति यत्र न सर्वथा इदमित्थन्तया वक्तुं शक्यते तत्र अनिर्वाच्या प्रथमा। तद्यथा भवभूतिना—

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिव श्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुद्बुदतरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथा सलिलमेव हि तत् समस्तम्।।

इत्यत्र निमित्त-विवर्तादिपदावली वेदान्तादिभ्यो कामं गृहीता; परन्तु स्वकीयकविदर्शनस्य तामङ्गभूतां विधाय। तेन न शास्त्रप्रतिपादनमिदम्, अपि तु कविदर्शनम्। यथा वा रघुवंशमहाकाव्ये—

रसान्तराण्येकरसं यथा दिव्यं पयोऽश्नुते।
देशे देशे गुणेष्वेवमवस्थास्त्वमविक्रियः।। (१०।१७)

अत्र तावद् 'रसो वै स' इति श्रुतेः, 'त्रिगुणमव्यापिसामान्यमचेतनं प्रसवधर्मि' तथा च पुरुषस्तु० इत्यादिसांख्यकारिकावचसां गुणानां विकारित्वस्य परमपुरुषगताविकारित्वस्य च प्रतिपादनं कथाप्रसङ्गधारायां स्वतस्तरङ्गायितम्। न चेदं सांख्यस्य प्रतिपादनमिति वक्तुं सुकरम्। यथा वा भवभूतेर्मालतीमाधवे स्मृतितत्त्वविवेचनम्, तत्तु स्मृत्यलङ्कार उदाहरिष्यामः।

यत्र कविर्यथाप्रसङ्गं यथाधीति यथास्वारस्यं च तत् तच्छास्त्रं काव्ये सङ्गृह्णाति तत्र द्वितीया। सङ्ग्रहोऽयं क्वचिदुपमानद्वारेण क्वचिच्च रूपकनिर्मितये आरोपद्वारेण भवति। यथा मम प्रस्थानलहर्याम्—

अर्थप्रकृत्या परिपोष्यमाणं
साबाधनिर्वाहितसन्धिबन्धम्।
प्रस्तावनातो भरतस्य वाक्यं
यावत्कृतं जीवननाट्यमेतत्।।

आरम्भयत्नौ विनिधीयमानौ
प्राप्तेस्तथाऽऽशा नियता तथाऽऽप्तिः।
एता अवस्थास्तु मयाऽनुभूताः
फलागमं तत् सकलं प्रतीक्षे।।

अत्र शास्त्रतत्त्वस्य साटोपमारोपं विदधानः कविर्न केवलं जीवने नाट्यस्य अपि तु नाट्यगतानामर्थप्रकृतीनामवस्थानां सन्धिबन्धानामपि जीवने पश्यति व्याप्तिम्। आरोपेऽस्मिन् प्रतिपादयिष्यमाणात्मानुभूतेरहङ्कृतेर्वाऽलङ्कारस्याभावान्न तथा काव्यानुगुणत्वम्। चमत्कारप्रदर्शने समधिकतरं कविधीर्विश्राम्यति।

उपमानद्वारेण यथा पुनर्ममैव धरित्रीदर्शनलहर्याम्—

दूरे संस्था निकटमिह सा भासते भास्वतीव
स्वेष्टस्येव च्छविरुपनता साक्षिभास्यस्वरूपा।।

अत्र साक्षिभास्यस्वरूपा इष्टस्य उपास्यस्य भगवतश्छविरित्युपमा प्रसङ्गवशादानीता। उपमायाश्चास्या समावेश इह भोजने लवणमिव

आस्वादवृद्धिकरस्तथापि न स्वतस्त्वम्, अतो न कालिदासादीनामिव कवेरस्य शास्त्रतत्त्वानां स्वायत्तीकृतत्वम्, अपि तु पृथग्भूतमेव शास्त्रतत्त्वं भासते। यथा वा नैषधकारस्य—

नपुंसकमिति ज्ञात्वा प्रियायै प्रेषितं मनः।
तत्तु तत्रैव रमते हता पाणिनिना वयम्।।

अत्र पाणिनीयं शास्त्रं कविर्नायकस्य रत्युत्कर्षाय अन्यथाविधाय उदाहरति।

यत्र तु प्रतिभादारिद्र्यदैन्यात् काव्यपूरणे स्खलन् कविः शास्त्रमवलम्बते, स्वकाव्यच्छिद्रपिधानाय शास्त्रतत्त्वैस्तदाच्छादयति वस्त्रेऽन्यवस्त्रस्य स्थगनसीवनमिव तत्र अधमा सङ्क्रान्तिः। तद्यथा मम 'वर्तमान' इति गजलगीतौ—

छलैर्जात्या वितण्डाभिस्तते वा निग्रहस्थानैः।
प्रमाणं केनचित् किं वा नु लब्धं वर्तमानेऽस्मिन्।।

अत्र छल-जाति-वितण्डा-निग्रहस्थान-प्रमाणेति शब्दा न्यायदर्शनस्था वर्तमाननिरूपणे आरोपिताः।

प्रथमायां कोटौ आशस्यप्ररोहादन्ने रस इव प्रतिभापरिस्पन्देऽन्तर्भूतमेव शास्त्रतत्त्वं परिस्फुरति, यद्वा प्रतिभा स्वतः स्वकीयं शास्त्रं निर्मिमीते अथवा परिष्करोति अन्यदीयं शास्त्रम्। द्वितीयायामन्नस्य पाककाले नानाव्यञ्जनौषधिसम्मिश्रणमिव शास्त्रमिश्रणं भवति। तृतीयकोटौ तु कविः परान्नमेव स्वकाव्यपात्रे परिवेषयतीति दिक्।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे प्रथमाधिकरणे शास्त्रसङ्गतिनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ।।

अथ अलङ्कारविमर्शो नाम द्वितीयमधिकरणम्

।। अथ अलङ्कारस्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्यायः ।।

अलङ्कारः काव्यजीवनम्।।२।१।१।। आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकविश्वत्रयसमुन्मीलनपुरस्सरं भूषणवारणपर्याप्त्याधायकत्वमलङ्कारत्वम्।।२।१।२।।

वैदिकैः मनीषिभिः विश्वस्याधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकत्वेन त्रैविध्यमूरीकृतम्। काव्यं सर्वाश्च कला वा एतत् त्रिविधमपि विश्वं प्रतिपादयन्ति। अयमेवालङ्कार एतेषां काव्यकलादीनाम्। अलम्भूषणवारणपर्याप्तिष्विति निगदन्नमरकोषकारस्त्रिविधमर्थं निरूपयति अलमित्युपपदस्य। अलम्भावं समुद्भावयन्, विकासयन्नुल्लासयन् वाऽलङ्कारोऽपि काव्यकलादिषु एतत् त्रैविध्यं साधयति। तत्र भूषणं नामाधिभौतिकं, वारणमाधिदैविकं पर्याप्तिश्चाध्यात्मिकं स्तरं परामृशति। अयं च परामर्श उपमाद्यलङ्कारेषु तथैव अलङ्कारवादिभिरलङ्कारतयैवाभिमतेषु गुण-रीति-रसादिषु चरितार्थयितुं शक्यः। अलङ्करोतीत्यलङ्कारः, अलङ्कृतिश्चालङ्कार इति निर्वचनाद् अलं वा अरं वेत्युपपदं ऋ-गतौ धातोर्निष्पन्नं गतिं प्रक्रियां वा व्यनक्ति। सा च प्रक्रिया भूषणं, वारणं पर्याप्तिं चादधाति।

तथा हि—भूषणं साधयन् कविः काव्यकलेवरे यमकादिविन्यासं विधत्ते, अनुप्रासेन प्रसाधयति वाण्यास्तनुम्, विस्तारयति वक्रोक्तीः। वारणेन तावत् हानोपादाने दृढमतिरसौ भवति। तेन सिध्यति काव्ये शिल्पगतं सौन्दर्यम्। वारणं नाम निवारणम्, तेन चानावश्यकस्य अनपेक्षितस्य वा परिहारो ग्राह्यस्य च सङ्ग्रहो जायते। यथा कश्चन तक्षा प्रस्तरेण शिल्पं निर्मिमीते। स प्रस्तरे यद् यद् अनपेक्षितं तत् तत् निस्सारयति, तेन स्वयमेव रमणीया आकृतिराविर्भवति। इत्थं कविरपि

यद् यद् अनपेक्षितं तत् तद् विनिवार्य अपेक्षितं गृह्णाति। अत एव वारणं निवारणं वा भवति सर्वदा सञ्चयपूर्वकम्, सङ्ग्रहसहितं वा। यथा केनचित् पाश्चात्यमनीषिणा उक्तमपि—सौन्दर्यं नाम अतिरिक्तस्यापाकरणमिति (Beauty lies in removing excess)। किं तावद् ऊह्यम्, किमनूह्यमिति उक्तानुक्तदुरुक्तविचारपुरस्सरं सौन्दर्यं कविरनेन न्यस्यति। तद्यथा आक्षेपालङ्कारे वक्तुमिष्टस्यैव निषेधात् सौन्दर्यस्याधानम्।

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।
इत्यादिभिः प्रियशतैरनुरुध्य मुग्धां
तामेव शान्तमथवा तिमिहोत्तरेण।।

अत्र वासन्त्या उक्तौ वक्ष्यमाणविशेषस्य निवारणादलङ्कार आविर्भवति। अत्र वारण एव अन्तर्भवन्ति पदशैया-पाकादयः काव्यकोटयः। उक्तमेव—

आधानोद्धरणे तावद् यावद् दोलायते मनः।
पदस्य स्थापिते स्थैर्ये हन्त सिद्धा सरस्वती।।
यत् पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम्।
तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते।।

(काव्यालङ्कारसूत्रवृत्तौ-१।३।१५)

न च आधिभौतिकं विना आधिदैविकस्य आध्यात्मिकस्य वा विश्वस्य सम्भवः, एवमेव उभे विना आधिभौतिकमपि निरर्थकमेव। अत एव अलङ्कारप्रक्रियायां भूषण-वारण-पर्याप्तीनां युगपत् समावेशस्तेन च एतस्य त्रिविधस्यापि विश्वस्य समुन्मेषः, तेन सकलमपि कल्याणोदर्कं मङ्गलमयं काव्यविश्वमिति न संशीतिः।

इत्थं च अलङ्कारो हि नाम सर्वासु कलासु सर्वविधसाहित्ये च सार्वकालिकः सार्वदेशिकः सर्वङ्कषश्च मानदण्डः। अलङ्कारोऽयं न केवलं काव्यविश्वस्य मानदण्डः, काव्यमार्गे तासां तासां पद्धतीनां नियामकोऽपि। तद्यथा दण्डी अलङ्कारस्य द्वैविध्यमूरीकरोति—

काश्चिन्मार्गविभागार्थमुक्ताः प्रागलङ्क्रियाः।
साधारणमलङ्कारजातमत्र प्रकाश्यते।

काश्चन अलङ्क्रियाः मार्गविभागं कुवार्णाः काव्ये अनिवार्यं पदं प्राप्ताः। अपरे केचन भवन्ति साधारणा उपमादयोऽनुप्रासादयोऽलङ्काराः। साधारणमलङ्कारमनादृत्य महाकवयः क्वचन अलङ्कारस्य विराड्रूपं साधयन्ति। तद्यथा भट्टलक्ष्मीधरकृते चक्रपाणिविजयमहाकाव्ये बाणस्य मुखेन शिवस्तुतिं प्रयुञ्जानो महाकविराह—

उपमा यत्र नास्त्येव यत्र जातिर्न विद्यते।
निर्गुणो निरलङ्कारस्त्वमिव त्वयि मे स्तवः।।

अत्रोपमायाः जातेरलङ्कारस्यापि निवारणं विहितम्। स्वकीयः स्तवः निर्गुणो निरलङ्कारश्चोक्तः परमेश्वर इव। तेन वारणं तावदावापोद्वापसहितं कविना विहितम्। अथ त्वमिव त्वयि मे स्तव इति कथनेन उपमाया निवारणं विधायापि पुनरप्युपमा उपात्ता। तेन च सम्पन्नेह भूषण-वारण-प्ररोह-समन्विता पर्याप्त्याधानस्यानुत्तमा प्रक्रिया।

न केवलं प्रतिपद्यमपि तु प्रतिकाव्यं प्रतिप्रबन्धमेषा भूषण-वारण-पर्याप्त्याधानप्रक्रिया आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकविश्वसमावेशकर्त्री गवेषणीया।

इत्थं च आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकविश्वत्रयसमुन्मीलनपुरस्सरं भूषणवारणपर्याप्त्याधायकत्वमलङ्कारत्वमिति अलङ्कारलक्षणं कर्तुं शक्यते। स चायमलङ्कारः काव्यस्य सर्वङ्कषो मानदण्ड इत्यपि सिध्यति।

सौन्दर्यमलङ्कार इति निगदन् वामनः काव्ये समग्रमपि सौन्दर्यं सौन्दर्यप्रक्रियां चालङ्काररूपामेव मनुते। एतेन ध्वनि-गुण-रीति-बन्ध-वक्रोक्ति-प्रभृतीनां समेषां काव्यतत्त्वानामलङ्कारवर्तित्वम्। तेन च— 'वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः, वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, न तु तदेकरूपा एव इति। तथा च—'न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेनाङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वादिति यदुक्तमानन्दवर्धनेन,

तदपास्तम्, अलङ्कारस्यैव महाविषयत्वात्, तस्य वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यादीनर्थान् व्याप्यापिताननतिशय्य अवस्थितेः। यथा पूर्वमवोचाम—वाच्यं लक्ष्यं तथा व्यङ्ग्यं समं व्याप्यावतिष्ठते, अतिशय्य पुनस्तांश्चेति। तथा चोक्तं रेवाप्रसादद्विवेदेन—

अस्मन्मते त्वलङ्कारः काव्यस्याङ्गस्य वीक्षणे।
ध्वनिं सोमं यथा वह्निः कवलीकृत्य राजते।। इति।

यदुक्तमलङ्कारः काव्ये जीवनं आधिभौतिकमाधिदैविव ाध्यात्मिकं वा विश्वमुन्मीलयति। क्वचित्तु रचनायां जीवनस्यैकस्य पक्षस्य विशिष्य चित्रणं भवति। कस्यचित् कवेः रचनायाम् आधिभौतिकस्य, कस्यचिदाधिदैविकस्य, कस्यचिद् रचनायामाध्यात्मिकस्य वा विश्वस्य प्राधान्यं दृश्यते। परमार्थतस्तु काव्ये सममेव त्रयाणां समुल्लासो भवति। प्राधान्यप्रतिपत्तिरापातततो जायते। तद्यथा भास-कालिदास-भवभूतीनामलङ्कारप्रयोगे क्रमश एतत्त्रितयमप्याधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकसमवेतं विश्वं समुन्मीलति; परन्तु व्यवहारदृशा तत्तत्स्थलेषु एकस्य प्राधान्यं प्रतीयते। तस्मिंस्तस्मिन् काव्ये प्रसङ्गे वा कवेः एकस्मिन् विश्वे दृष्टेर्विश्रान्तेः। भासस्य प्रातिभं चक्षुः प्राय आधिभौतिकमेव जगत् नानावर्णविशेषविच्छित्तिपुरस्सरं पश्यति। तस्य रूपकेषु स्वैरं डयन्ते यद्यपि कल्पनाविहङ्गमाः, परन्तु तदीयान्युपमानानि अप्रस्तुतविधानं वा भौतिकम् ऐन्द्रियगम्यमेव वा जगद् विषयीकुर्वन्ति प्रायः। तद्यथा—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां
काले काले छिद्यते रुह्यते च।।

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः
स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्।
यात्रा त्वेषा यद्विमुच्येह वाष्पं
प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्।।

कालिदासीया तु प्रतिभा आधिभौतिकमतिक्राम्य आधिदैविके विश्राम्यति। तदीये रूपकत्रये क्रमश आधिभौतिकाधिदैविकं ततश्चाध्यात्मिकमारोहति प्रतिभानम्; परन्तु प्राधान्यमाधिदैविकस्यैव तत्र वरीवर्त्यते। मालविकाग्निमित्रे त्वस्यैव राजनीतिसङ्कीर्णस्य दैहिकवासना-परिप्लुतस्य जगतो यथार्थमुन्मीलति। यत्र अस्य जगतो यथार्थस्याति-क्रमणमपि तत्रापि कविबुद्धिराधिभौतिके जगत्येव विश्राम्यति। परिव्राजिका अग्निमित्राय आशिषं प्रयुङ्क्ते। इदमेव तत्र तस्या आकूतम्—

महासारप्रसवयोः सदृशक्षमयोर्द्वयोः।
धारिणीभूतधारिण्योर्भव भर्ता शरच्छतम्।। (१।१५)

अत्र धारिणी राज्ञो भार्या, भूतधारणी च राज्यमात्रम्, उभयोर्भर्ता अग्निमित्रो भवत्विति मङ्गलमाशास्ते परिव्राजिका। विदूषकोक्तिषु उपमालङ्कारा बलादानीयमाना एनमेव यथार्थमुपोद्बलयन्ति। तथापि राजानमेग्निमित्रमुद्दिश्यैवासौ प्रखरजिह्वया खरतरसत्यं प्रकटीकुरुते 'सूना परिसर इव गृध्रः आमिषलोलुपो भीरुश्चे'ति तं भणति। गणदासहरदत्तयोर्मिथः कलहे प्रसक्ते विदूषकः सोल्लुण्ठमवादीत्—'अन्योन्यकलहप्रिययोर्मत्तहस्तिनोरेकतरस्मिन्ननिर्जिते कुत उपशम' इति। मालविकादर्शनाय त्वरमाणमग्निमित्रमयं पुनः परिहसत्युपमया—'दरिद्र इवातुरो वैद्येनौषधं दीयमानमिच्छसि' इति। मालविकासङ्गममहानन्दसागरे निमज्जति तस्मिन् सहसा समागतायामिरावत्यां च तदीयेयमुक्तिः—'बन्धनभ्रष्टो गृहकपोतो विडालिकाया आलोके पतित' इति। कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिषु कविना स्वयमुम्भितेष्वप्यर्थेषु च उपमानानि भौतिकजगद्गतान्येव दरीदृश्यन्ते मालविकाग्निमित्रे। तद्यथा—पात्रविशेषे न्यस्तं गुणान्तरं व्रजति शिल्पमाधातुः। जलमिव समुद्रशुक्तौ मुक्ताफलतां पयोदस्य।। (१.६) इत्यत्रापि यथा पात्रविशेषस्योपमेयस्य कृते शुक्तिः शिल्पस्य कृते जलम्, गुणान्तरस्य कृते च मुक्ताफलमित्युपमानानि भौतिकसत्यमेवोद्घाटयन्ति दृढयन्ति च प्रत्यक्षप्रमाणानुभूतं यथार्थम्। तथैव सलिलनिधिरिव प्रतिक्षणं मे भवति च नवो नवोऽयमक्ष्णोः (१.११) इत्यत्रापि समुद्रस्योपमानम्। गणदासश्च—

उपदेशं विदुः शुद्धं सन्तस्तमुपदेशिनः।
श्यामायते न युष्मासु यः काञ्चनमिवाग्निषु।। (२.९)

इति निगदन् पुनरपि भौतिकजगत उपमानजातमानयति।

मालविकाया आननमग्निमित्रेण—असमग्रलक्ष्यकेसरमुच्छ्वसदिव पङ्कजं दृष्टम् (२.१०)। नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धमिति (२.६) कथयन्नग्निमित्रो व्यतिरेकालङ्कारेण कलात्मिकीं रचनां विगणयन् भौतिकमेव संस्थानं बहु मन्यते। तथैव 'पत्रच्छायासु हंसा मुकुलितनयना' इत्यादिस्वभावोक्त्या तत्रैव बद्धादरः कविरपि। नायको मालविकां परभृतया वकुलावलिकां च भ्रमर्या तुलयति (४.२), स्वयं च सहकारतां गतो नायिकामतिमुक्तलताचरितं श्रयितुमुपदिशति (४.१३)। इत्थं च नानाकल्पनाविजल्पनाश्चास्मिन् रूपके भौतिकजीवने दत्तावधानं कविं प्रमाणयन्ति। अन्यत्रापि तरु-मेघ-दीपादीनामुपमानानि, तथैव—नवः संरोपणशिथिलस्तरुरिव सुकरः समुद्धर्तुम् (१.८), जीमूतस्तनितशङ्किभिर्मयूरैरुद्ग्रीवैरनुरसितस्य पुष्करस्य (१.२१), पङ्कच्छिदः फलस्येव निकषेणाविलं पयः (२.६), दृश्यं तमसि न पश्यति दीपेन विना सचक्षुरपि (१.९) इति सन्ति बहूनि स्थलानि।

नात्र भवभूतिरिव सूक्ष्मानाम् अमूर्तानां वा भावानामुपमानानि कविनोपात्तानि। यत्राप्युपात्तानि तत्रापि भौतिकजीवनमेव तान्यङ्कुरयन्ति। यथा गणदास-हरदत्तयोः कृतेयमुपमा—त्वां द्रष्टुमुद्यतौ साक्षाद् भावाविव शरीरिणौ (१.१०)। तथैव नायिकाया इयं छविः—

अनतिलम्बिदुकूलनिवासिनी बहुभिराभरणैः प्रतिभाति मे।
उडुगणैरुदयोन्मुखचन्द्रिका हतहिमैरिव चैत्रविभावरी।।

धारिणी चक्रवाकमिथुनस्य वियोगं साधयन्ती रजनीह कथिता। इत्थं मालविकाग्निमित्रे आधिभौतिकं जगत् प्रधानम्। विक्रमोर्वशीये त्वाधिदैविकम्। अत एव यथा मालविकाग्निमित्रे उपमाः प्रभवन्ति तथैवात्र उत्प्रेक्षाः। एतच्च उपमोत्प्रेक्षाविवेचनावसरे पुनः विशदं प्रतिपादयिष्यामः।

विक्रमोर्वशीये कलासृष्टिं बहु मन्यमानः कविर्नायकमुखेन वेगाकृष्टस्य रथस्य चामरं चित्रारम्भविनिश्चलं मनुते।

चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्।। (१.५)

केशिदानवापहृता उर्वशी राज्ञा रक्षिता मूर्च्छां शनैः शनैर्जहाति। कविस्तस्याश्छविमित्थमुत्प्रेक्षते—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गा रोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्।। (१.९)

अन्यत्रापि कविना उर्वशीचित्रलेखे गङ्गायमुनाभ्यां तुलिते (२.१४)। रथसङ्क्षोभादुर्वश्या अङ्गेन स्पृष्टाङ्गः पुरूरवा सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजमनुभवति (१.१३) अत्र मनसिजशब्दप्रयोगो मानसिकस्तरं काव्यस्य प्रगुणयति भौतिकजगदतिरिच्य। उर्वश्या नैसर्गिकं रूपं भौतिकीं प्रसाधनसामग्रीं प्रत्याचष्टे—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।। (२.३)

उर्वश्याः कृते न तन्मानसे शारीरिकमाकर्षणमेव केवलमपि तु मानसीं रुक् तं दृढतरं बाधते। अत एव स आह—नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीम् (२.११)।

प्रेम्णि वस्तूनां विशिष्टं रूपं समुन्मीलति। अत एव राजा सङ्गमनीयं मणिं बहु मन्यते। नायं तस्य कृते मणिमात्रभूतः, प्रियासमागमहेतुत्वादमूल्यतां गतः। अन्ततश्च देवानां मनुष्याणां चान्तःसम्बन्धं निरूपयन् कविः सर्वथाऽऽधिदैविकं रूपं स्वरचनायाः साधयति—

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात् त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं स्वतेजसा।। (५.२०)

इति नारदमुखेन मनुष्यान् सन्दिशन् चरितार्थयँश्च तत् पुरूरवसश्चरित्रेण।

अभिज्ञानशाकुन्तले तु आधिदैविकमप्यतिक्रम्य आध्यात्मिक-धरातलमारोहत्येव कालिदासः। अत एव तत्र अतिशयालङ्कारः। एतच्च अतिशयालङ्कारविवेचने पुनः प्रतिपादयिष्यामः। प्रस्तावनायामेव दयमानाभिः प्रमदाभिः शिरीषकुसुमावतंसे मनुष्यगतं कारुण्यम् आध्यात्मिकमेव। तदनन्तरम् आर्षदृष्टेः आर्षतेजसः आर्षकरुणायाश्च साम्राज्यमिह बोभूयते अनुभूयते च। युक्तमुक्तवान् दुष्यन्तः—शमप्रधानेषु तपोवनेषु गूढं हि दाहात्मकमस्ति तेजः (२.७) इति।

शकुन्तलायाः कृते अनाघ्रातं पुष्पमित्यादिना (२.११) चत्वारि उपमानानि उपस्थापितानि। तानि चोपमानानि पुष्प-किसलय-रत्न-मधूनि क्रमशः गन्ध-स्पर्श-रूप-रस-तन्मात्रसम्बद्धानि इन्द्रियसन्तर्पकत्वं प्रकटयन्ति नायिकायाः। किन्तु अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघमिति कथनेन अन्यैव कवेः दृष्टिरिह प्रतिफलति। अन्यत्राप्युपमया कालिदासो दुष्यन्तमुखेन नायिकायाः पावनतां प्रकटीकुरुते—

सुरयुवतिसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्।।

वस्तुतः शाकुन्तले कालिदासगिरा 'श्रद्धावित्तं विधिश्चैव त्रितयं चात्र सङ्गतम्' इति वक्तुं सुशकम्। तथापि कालिदासस्य दृष्टिः आधिभौतिकमतिक्रम्य आधिदैविके समधिकतरं रमत इति तस्यालङ्कारप्रयोगाः प्रमाणयन्ति त्रिष्वपि रूपकेषु। भवभूतिस्तु रूपकत्रितये आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकजगन्ति समुन्मीलयति, तथापि तदीया कविचेतना आध्यात्मिकमेव विशिष्य समारोहतीति तदीया उपमाद्यलङ्कारा अपि निदर्शयन्ति। महावीरचरितं राजनीतिगतं सङ्घर्षं महावीरस्य रामस्य च पराक्रमं प्रस्तौति। अत्र मुख्यत आधिभौतिकं जगद् विषयीभूतम्, तदनुरूपश्चालङ्कारप्रयोगः। परन्तु कविः स्थूलात् सूक्ष्ममनुसरति।

मालतीमाधवे माधवस्य मालत्याश्च प्रणयकथा, मानसिकीव्यथा चाधिभौतिकजगत: धरातलेऽधिष्ठिते अपि आधिदैविकं मानवसम्बन्धं पुरस्कुर्वत:। उत्तररामचरिते 'तु सीता आधिदैविकजगद् अतिक्रम्य दिव्यां भूमिमारूढा। इत्थमलङ्कार: प्राधान्येन क्वचिदाधिभौतिकं क्वचिदाधिदैविकं क्वचिच्चाध्यात्मिकं विश्वं क्रोडीकुरुते, क्वचिद्द्वयोस्त्रयाणां वा युगपत् समुल्लासं प्रकटीकुरुते। परन्तु नैतेषु एकमेव विश्वमन्याभ्यां पृथग्भूतं स्वत:पूर्णं वा प्रकटीभवति। एतेषामन्योन्यसापेक्षतैवालङ्कार:। तेनालङ्कारेणैव पूर्णताऽऽधीयते काव्ये। तस्मिश्चान्तर्भवन्ति समग्रा काव्यकोटय:। भवतश्चात्र श्लोकौ—

रसाश्चापि गुणाश्चापि रीतयो वृत्तयस्तथा।
सर्वे ध्वनिप्रभेदाश्च ये प्राचीनैरुदाहृता:।।

सन्धिसन्ध्यङ्गवृत्त्यङ्गलक्षणानि तथैव च।
अलङ्कारस्य परिधौ सर्वे चान्तर्भवन्ति ते।।

रीतिवृत्तिरसादीनामलङ्कारान्तर्वर्तित्वं च प्रतिपादयिष्यते अत्र अस्याधिकरणस्य द्वितीयेऽध्याये। यदुक्तमुद्भटेन—

प्रेयोरसवदूर्जस्वि पर्यायोक्तं समाहितम्।
द्विधोदात्तं तथा श्लिष्टमलङ्कारान् परे विदु:।।

रत्यादिकानां भावानामनुभावादिसूचनै:।
यत्काव्यं बध्यते सद्भिस्तत्प्रेयस्वदुदाहृतम्।।

रसवद् दर्शितस्पृष्टशृङ्गारादिरसोदयम्।
स्वशब्दस्थायिसञ्चारिविभावाभिनयास्पदम्।।

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानका:।
बीभत्साद्भुतशान्ताश्च नव नाट्ये रसा: स्मृता:।।

चतुर्वर्गेतरौ प्राप्यपरिहार्यौ क्रमाद् यत:।
चैतन्यभेदादास्वाद्यत्वात् स रसस्तादृशो मत:।।

अनौचित्यप्रवृत्तानां कामक्रोधादिकारणात्।
भावानां च रसानां च बन्ध ऊर्जस्वि कथ्यते।।

रसभावतदाभासवृत्तेः प्रशमबन्धनम्।
अन्यानुभावनि:शून्यरूपं यत् तत् समाहितम्।।

(काव्यालङ्कारसङ्ग्रहे–४।४६-५३)

तेन अलङ्कार एव काव्यमिति वक्तुं शक्यते। तं येऽलङ्कुर्वन्ति तेऽप्यलङ्कारा वक्ष्यमाणभेदा:।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे द्वितीयेऽधिकरणे अलङ्कारस्वरूपनिरूपणं नाम प्रथमोऽध्याय: ।।

।। अथ कविव्यापारनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।

अलम्भावमाधातुं कविना सम्पाद्यमाना प्रक्रिया कविव्यापारः।।२।२।१।। स चतुर्धा वृत्ति-रीति-मार्ग-रस-भेदात्।।२।२।२।। नियतवर्णगतो व्यापारो वृत्तिः।।२।२।३।। पदविशेषगतो व्यापारो रीतिः।।२।२।४।। अर्थविषयको व्यापारो मार्गः।।२।२।५।। आस्वादविषयको व्यापारो रसः।।२।२।६।।

वृत्तयः उपनागरिका-परुषा-कोमलेति प्राचीनैः प्रतिपादिताः। तासां विनियोगेन अनुप्रासस्य वक्ष्यमाणनादानुवृत्तेरलङ्कारस्य च सम्भवः। पदानां सन्निवेशस्य तु भवन्ति अनन्ता भेदाः। तद्यथोक्तं दण्डिना—

अस्त्यनेको गिरां मार्गः सूक्ष्मभेदः परस्परम्।

(काव्यादर्शे-१।४०)

तथा च—

तद्भेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुं प्रतिकवि स्थिताः।

तत्र प्राक्तनैराचार्यैः प्रतिपादिताः सन्ति वैदर्भी-पाञ्चाली-गौडीप्रमुखाः रीतयः। अन्ये तु लाटीयां चतुर्थीमपि तासु योजयन्ति। रीतिंष्वन्तर्भवन्ति गुणाः। तेऽप्यस्मन्मतेनालङ्कारेष्वन्तर्भवन्ति। अन्तर्भावं चैषामलङ्कारेषु यथावसरं प्रतिपादयिष्यामः। शारदातनयस्तु प्राधान्येन चातुर्विध्यम्, अवान्तरभेदसंवलितत्वेन पञ्चोत्तरशतं देश-काल-व्यक्त्यादि-भेदैर्विभिन्नत्वाच्च आनन्त्यमेषां मन्वानः—

प्रतिवचनं प्रतिपुरुषं तदवान्तरजातितः प्रतिप्रीति।
आनन्त्यात् संक्षिप्य प्रोक्ता कविभिः चतुर्विधेत्येषा।।

तासु पञ्चोत्तरशतं विधाः प्रोक्ता मनीषिभिः। इति भावप्रकाशन आह।

अथ काञ्चन नवीना रीतय इह गण्यन्ते।

विश्लिष्य कथनं व्यासरीतिः।।२।२।७।। अनुकृत्याभासेन विडम्बनरीतिः।।२।२।८।। मनोवृत्तिनिरूपणेन चेतनाप्रवाहरीतिः।।२।२।९।। पाठकं प्रति सम्बोधनेन वार्तालापरीतिः।।२।२।१०।।

समासाभावो विश्लिष्यकथनं चास्या रीतेर्लक्षणम्। अस्यां रीतौ यद् वस्तु संस्कृतवाक्यरचनायाम् एकेनैव वाक्येन प्रकटीकर्तुं शक्यते, तस्य कथनाय नैकानि वाक्यानि अवान्तरवाक्यानि वा उपादीयन्ते। यद्यपि पदार्थे वाक्यरचनं वाक्यार्थे च पदाभिधा इत्यादिकथनैः पञ्चविधा या प्रौढिः वामनादिभिः प्रत्यपादि, तत्र प्रथमभेदेन तथैव व्याससमासौ इति कथनेन च अस्या रीतेः सङ्केतः कृत एव पूर्ववर्तिभिर्वामनादिभिः, तथापि हिन्दी-प्रभृतिष्वाधुनिकभारतीयभाषासु वाक्यरचनाया यद् विश्लेषणात्मकं रूपं प्रभविष्णु वर्तते, तदेवात्र सर्वङ्कषं गृह्यते। तत्र यत्तदोर्यथातथयोर्वा प्रयोगोऽत्र बाहुल्येन दृश्यते। अस्याः प्रयोगो गद्ये विशेषतो ललितनिबन्ध-यात्रावृत्त-कथादिष्वद्यतनसंस्कृतसाहित्ये भवति। परिष्कृत-वाक्यरचनायां समासरचनायां चाप्रगल्भैर्नव्यैः प्रायश इयमुपादीयते, तेन रचनाकर्तुरसामर्थ्यमपि क्वचिदियमभिव्यनक्ति। परन्तु सैवेयं व्यासरीतिः समुल्लसन्ती विदग्धवचोविन्यासनिपुणानां रचनाकर्मनदीष्णानां कृतित्वे क्वचिदभिनवां विच्छित्तिं प्रकटीकुरुते। अत्र यत्तदादीनां मुहुर्मुहुः प्रयोगः क्रियमाणः क्वचिद् वैरस्याय उपजायमानोऽपि वर्ण्यविषयस्य विचारस्य वा सुस्पष्टतां साधयति। तथा हि कलानाथशास्त्रिणः 'आवाहनम्' इति कथायाम्—

तदनु तेन तन्मन्दप्रकाशप्रसारको विद्युद्दीपो निर्वापितो यः प्रकोष्ठे प्रज्ज्वलति स्म। मध्यगायां त्रिपादिकायां परं पिशङ्गालोकावहः सुलघुः विद्युद्दीप उद्भावितो यस्तस्मिन् कर्गदफलके एव प्रकाशं व्यतनोत्, यदुपरि सा विचित्रा लेखनी निहिताऽभूत्, यामादाय स मृतानां जनानामात्मन आवाह्य तेषां सन्देशमुट्टङ्कयति स्म'। (दूर्वा-३९, पृ. ८५)

अत्र सर्वे गुणाः सर्वे रसाश्च पदं लब्धुं शक्नुवन्ति। विशिष्य प्रसादः समाधिः (आरोहावरोहरूपः), पदानां नृत्यत्प्रायत्वरूपः श्लेषश्च समधिकं दरीदृश्यन्ते।

विडम्बनरीतिं लक्षयति—**अनुकृत्याभासेनेति**। न तु वस्तुतोऽनुकृत्या। अनुकृतिरनुकरणं वा पूर्वं प्रतिपादितो व्यापारः, स च समस्तेषु शिल्पेषु काव्येषु वा मूलभूतः। यत्र कविर्नटो वा जानन्नपि अनुकृतेराभासमुत्पादयति, न तु वस्तुतोऽनुकरोति तत्र विडम्बनरीतिः। आधुनिकसाहित्ये पैरोडीति पदेन व्यपदिश्यमाना सोत्प्रासं सोल्लुण्ठनं भङ्गीभणितिविशेषैरियं कमपि कौतुकं पुष्णाति। रीतिरियं नव्या विधा उद्भावयति। समेषां शब्दगुणानामत्र समावेशः कर्तुं सुशकः, अर्थगुणेषु च माधुर्योदारते विहायान्येषाम्। क्वचित् प्राचीनसाहित्ये विद्यमानं भावुकतातिशयं कल्पनाप्रवणतां च रीतिरियं परिहसति। यथा हरिभद्रसूरेः धूर्ताख्यानम्। आधुनिकरचनासु महामहोपाध्यायरामावतारशर्मणो मुद्गरदूतम् अस्या रीतेरनुत्तममुदाहरणम्। तथा हि—

तां जानीथाः प्रलपनपटुं मृत्युदेवीं द्वितीयां
दूरीभूते मयि सहचरे तत्र घूकीमिवैकाम्।
गाढामोदां तनुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु वृद्धां
जातां मन्ये निजपतियुतामश्वभार्यामिवान्याम्।। (११३)

मूर्खत्वं स्याद् भरतवसुधावासिनां केन शश्वत्-
सिद्धैर्लोभैः कथमविरतं वञ्चितेभ्यश्च तेभ्यः।। (४४)

वेङ्कटराघवो विद्यानाथविडम्बननाम्नि रूपके विडम्बनशैल्या रुचिरं मौलिकं प्रयोगं विधाय नवीनां दिशमुनमीलयत्। एतेन विशिष्टा पदरचना रीतिरिति लक्षणं चरितार्थतां तु यात्येव; परन्तु विशिष्टकथ्य-विन्यासविचक्षणा विशिष्टा पदरचना रीतिरिति लक्षणपरिष्कारो राघवन्महोदयस्य कृतिं समीक्ष्य कर्तुं शक्यते। यतो हि अत्र पदविन्यासवैशिष्ट्येन सह अर्थदृष्टिरपि नवीनैव। एतादृशि काव्ये विडम्बनम् अनुकरणजन्यं भवति। अनुकरणमप्यत्र त्रिविधम्—प्राचीनकाव्यादीनाम्, पारम्परिकाख्यानाख्यायिकादीनाम्, समकालिकानां कल्पितानां वा पात्राणाम्। रीतिपरिवर्तनं पात्रविशेषस्य कथनभङ्गीं विडम्बयता कविना विधीयते। कथनभङ्ग्याश्चानुकरणं तत्तत्पात्रस्य न

केवलं वैशिष्ट्यं, हास्यास्पदत्वमपि तस्य प्रकटीकरोति। हास्यास्पदत्वं च कविप्रौढोक्त्या कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्त्या वा अभिव्यज्यते। कविनिबद्ध-वक्तृप्रौढोक्तावपि कविकल्पितं पात्रम् अन्येषां विडम्बनां करोति, आत्मानं विडम्बयति, कविना वा साङ्केतिकतया विडम्ब्यत इति त्रिविधा रीतिः। निरालाकवेः हिन्दीभाषायां कुकुरमुत्तेति कविता एतत्त्रैविध्यं युगपदेव प्रकटीकरोति। दूर्वायां प्रकाशिता वसन्तत्र्यम्बकशेवडेकृता गर्दभाख्यानम् इति कविता, ज्ञानोपाह्वस्य बच्चूलालावस्थिनः 'उलूकलपितम्, श्येन उवाच' इत्यादीनि काव्यान्यपि तुलामेनामधिरोहन्ति। तथैव दीनानाथत्रिवेदीमधुपस्य गर्दभगर्वोक्तय इति काव्यं च। गर्दभाख्यानकाव्ये शेवडेवसन्तकविना कथं रासभा राजसभायां सत्कृता राजन्ते मोदन्ते इति सोल्लुण्ठं प्रतिपाद्य प्राचीनस्तुतिकाव्यानां माहात्म्यख्यापनस्यापि विडम्बनं प्रस्तुतम्—

सकृदपि मनोज्ञं गर्दभाख्यानमेतत्
परिपठति पुमान् यः सादरं वा शृणोति।
स भजति भगवत्याः शीतलायाः प्रसादाद्
गुणलवरहितोऽपि प्रोन्नतस्थानलाभम्।। (दूर्वा-५, पृ. ११)

नव्येषु लघुवंशे वीरभद्रमिश्रः, पदप्रज्ञोपनिषद्-अधिकारी-प्रभृति-रचनासु रहसविहारी चैनां साधु प्रयुक्तवन्तौ। मदीयकाव्येषु स्तुतिमालादिषु क्वचिदियं प्रयुक्ता। तद्यथा—

नमस्तुभ्यं नेतृवर्य यत्कण्ठः पुष्करायते।
मदाभोगघनध्वाने राजनीतिकताण्डवे।।

निरुपादानसम्भारमभित्तावेव तन्वते।
भव्यमाश्वासनं चित्रं कलाश्लाघ्याय ते नमः।।

विडम्बरीतेः प्रयोगो नव्यभावबोधपुरस्सरं क्रियमाणो विश्वसाहित्ये सम्प्रति बहुश उपादीयमाने विसङ्गतिबोधे परिणमति। परिणतिरियमनुभूयते अभिराजराजेन्द्रमिश्रविरचितेषु चतुष्पथरूपकेषु मदीये च सद्यःप्रकाशिते विक्रमचरिताख्याने।

क्वचित् श्लेषेण द्व्यर्थकवचोवितानेन वा विडम्बनरीतेर्नवीनं रूपमाविष्क्रियते। तद्यथा—नरोत्तमशास्त्रिगाङ्गेयस्य लण्डनचरिते गौरण्डानां कृते अधिक्षेपं जुगुप्सां च प्रकटयता कविना पिशुनानामिव आङ्ग्लजातीयानां चरितं पिशुनितम्।

समस्यापूर्तिषु विडम्बनरीतिसमाश्रयेण रचनाकर्तुर्जीवनदर्शनाभिव्यक्त्या वा नवोन्मेषः अलोकसामान्यप्रतिभाविशेषस्य चाभिव्यक्तिः सञ्जायते। कविभारतीकुसुमाञ्जल्यां 'धन्या ममेयं धरे'ति शीर्षकेण समस्यापूर्तिषु क्रियमाणासु नैकैः काशीस्थैः पण्डितैर्भारतधरायाः स्तुतिः पुनरावर्तितैः शब्दैर्व्यधायि, कमलेशदत्तत्रिपाठी तु तत्र विडम्बनरीतिमाश्रित्यान्यथा रचयामास—

यत्र ध्वाङ्क्षनिभा विरावपटवो नेतृत्वसंसाधका
उत्कोचैकपरा जनस्वहरणे पारङ्गताः साहिबाः।
'पूँजी'-स्वामिहितैकसाधनरताः कुम्भोदरा नायका
राजन्ते खलु राजनीतिभुजगा धन्या ममेयं धरा।।

(कविभारतीकुसुमाञ्जलिः-६, १९७३, पृ. ७५)

अत्र उपहासस्य उत्त्रासस्य वा प्रधानता। क्वचित्तु विडम्बनरीतिमाश्रित्य विधीयमानासु समस्यापूर्तिषु करुणरसोऽपि अङ्गत्वेन उद्रिच्येत। यथा उमाशङ्करशर्मत्रिपाठिनो चक्रिचूडामणिरिति काव्ये हास्यं करुणया संवलितम्। यथा वा मम अमरुककाव्यपङ्क्तिमादाय विहितायां समस्यायाम्—

कल्याणी कविकालिदासरचिते काव्यव्रजे झङ्कृता
नाट्ये या भवभूतिना विरचिते रङ्गे तरङ्गायिता।
पाञ्चालीव च बाणभट्टरचिते गद्ये बभौ भारती
सुप्ता किन्नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्?।।

(सम्प्लवः, पृ. १२)

विडम्बनरीतेः समाश्रयेण छाया-असङ्गति-प्रभृतीनामलङ्काराणां काव्ये निधानं सम्भवति।

चेतनाप्रवाहरीतिं लक्षयति—**मनोवृत्तिनिरूपणे चेतनाप्रवाह-रीतिरिति।** पाश्चात्यसाहित्ये इयं रीतिः ‘stream of consciousness’ इति कथ्यते। आङ्ग्लभाषाकथाकारेषु यूलिसिस इत्युपन्यासस्य प्रणेता जेम्सज्वाइसः, कथाकर्त्री वर्जीनियावुल्फ् च अस्या रीतेः प्रयोक्तृषु अग्रगण्यौ। अत्र पदानां नृत्यत्प्रायत्वेन जनितः श्लेषः, पृथक्पदत्वरूपं माधुर्यम्, आरोहावरोहक्रमरूपः समाधिः पदसौकुमार्यं चैते गुणाः सविशेषमुन्मिषन्ति। नात्र रसास्वादस्य पार्यन्तिकत्वम्; अपि तु भावसन्धिभावशबलतादयः प्राधान्यं भजन्ते। साम्प्रतिकसंस्कृतसाहित्ये कथाकारः केशवचन्द्रदाशः प्रामुख्येणास्याः प्रयोक्ता। कनीयसीति कथायाः प्रणेता हरिरविन्दोऽपि क्वचिदिमां प्रयुनक्ति। दिङ्मात्रम् उदाहरणद्वयं प्रस्तूयते—

‘दुःखमध्ययनम्। तत्र च अनुसन्धानं दुष्करम्। तस्मिन् आकलनं च खेदकरम्। सत्यनिरूपणं च विवादाय एव। समीक्षा ईर्ष्याजर्जरा। फलं तु केवलम् अलङ्करणम्। उपयोगः पुनः द्विदिनजीविकानिमित्तम्। अतः अध्ययनम् उपाधिः। उपाधिश्च सामाजिकता। दाम्पत्यनिमित्तं मानदण्डः। विवाहार्थं धनलाभस्य उपायः। एतदर्थं मिली अध्ययनम् आरब्धवती’। (अञ्जलिः, पृ. ३८)

केशवचन्द्रस्य निरूपणे मनःस्थितिभिः कथाया अग्रेषणं विधीयते। तथा हि—

‘दहनं साधारणीकृत्य रात्रिर्व्यतीता। विषयो विमृष्टः। विवादो विचारितः। समाधानम् अन्विष्टम्। आत्मा अवबुद्धः। उपायश्चिन्तितः। परं कालधारे सर्वमद्य शिथिलम्। सर्वं च विफलम्। बहु अवसानम्। अनेकं च अवसन्नम्’। (तत्रैव, पृ. ४६)

अत्र कथाकारो पात्राणां चिन्तासन्ततितन्तुजाले स्वकीयां चेतनां वयतीति प्रतीयते। पात्रस्य चिन्ताधारा केशवचन्द्रस्य लेखनीतः प्रवहति। मनःस्थितिविशेषा एव कथावस्तु निर्मान्ति, त एव घटनायन्ते प्रसङ्गायन्ते इति रीतेरस्याः पारम्परिककाव्येषु प्रयुक्ताभ्यो रीतिभ्यो विशेषः।

वार्तालापरीतिं लक्षयति—**पाठकं प्रति सम्बोधनेन वार्तालापरीतिरिति**। प्राचीनसाहित्ये कविः पाठकं प्रत्यक्षं न सम्बोधयति। आधुनिकरचनासु 'प्रियपाठक!' इत्येतादृशं सम्बोधनमुपादाय रचनाकारः परोक्षमपि पाठकं प्रत्यक्षमिव सम्मुखं परिकल्प्य तं सम्बोधयति। अनेन कश्चन गुणो रचनायामाविर्भवति। इयं रीतिः ललितनिबन्धेषु सम्प्रति भृशमुपादीयमाना अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य कथासु च क्वचिद् लसन्ती दृश्यते।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे द्वितीयेऽधिकरणे कविव्यापारनिरूपणं नाम द्वितीयोऽध्यायः ।।

●

।। अथ अलम्भावनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ।।

अलम्भावस्तु पूर्णता।।२।३।१।।

अलमिति पूर्णता। तस्या भावः सत्ता वा अलम्भावः। तेन अलम्भावः काव्य एव उन्मिषति। तत्प्रत्ययः प्रमातरि अपि स्यात्। ननु अलम्भावस्तु अनुभवरूपः, स च प्रमातरि एव प्राधान्येन भवेदिति इति चेत्, न, तद्यथा विमर्शिन्यां जयरथ आह—'ननु अवभासमानत्वं प्रमातृधर्म इति कथं तदाश्रयो धर्मः काव्यालङ्कार इति चेत्, असदेतत्। अवभासमानस्य त्वभास्यनिष्ठतया प्रतीतेरर्थधर्मत्वात्। तथा हि केषाञ्चन प्रतीतिवादिनाम्—

तथा हि वेद्यता नाम भावस्यैव निजं वपुः।
चैत्रेण वेद्यं वेद्मीति किं ह्यत्र प्रतिभासते।।

इत्याद्युक्तयुक्त्या कौमारिलवन्नीलताया इव वेद्यताया अप्यर्थधर्मत्वमेवेष्टम्। इह च तदुपक्रम एवेति वस्तुवादसंस्पर्शो न्याय्यः'। इति (अलङ्कार-सर्वस्वविमर्शिनी, तृतीयसूत्रे)।

अस्य पूर्वोक्तस्य लोकानुकीर्तनरूपस्य काव्यस्य अलङ्काररूपतेत्य-वोचाम। तस्यालङ्कारस्य योऽनुभवोऽनुभूतिर्वा सोऽलम्भावः। स चानुभवः कवि-नट-सामाजिकेषु समानः। आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिक्य-स्तिस्रोऽवस्थाश्चेतनायाः पूर्वं कीर्तिताः। अलम्भावोऽयमवस्थात्रितये परिव्याप्तः अन्नमय-मनोमय-प्राणमय-विज्ञानमयानन्दमयेति पञ्चकोशान् परिपूरयति। भवतश्चात्र कारिके—

कवौ चैव कलाकारे तथा सामाजिके समम्।
उद्भिद्यते त्वलम्भावो विकासं याति चोल्लसन्।।

रसा भावा रसास्वादः प्राचीनैः परिकीर्तिताः।
अलम्भावैकदेशस्था नूनं सर्वे भवन्ति ते।।

यद्यथाऽऽह श्रुतिः—यो वै भूमा तत् सुखम्, नाल्पे सुखमस्तीति।

तद्यथाऽऽह तोतोऽपि—नायकस्य कवेः श्रोतुः समानोऽनुभवस्ततः। भावः कवेरभिप्रायः। भावस्य साक्षात्कारोऽपि भावरूप एव।

अस्य चालम्भावस्याधिष्ठानं यथा कविप्रतिभा तथा काव्यं तथैव मनुष्यचैतन्यम्, अस्मिन् वा चैतन्यं प्रतिष्ठितमित्यपि वक्तुं युज्यते। अस्मिंश्चालम्भावे विविधाश्चित्तवृत्तयो भवन्ति सङ्कुम्फिताः। नद्या इव प्रवाहा बहुस्रोतसो भवन्ति नानामुखाश्च चित्तवृत्तयः। उक्तमेव भगवता पतञ्जलिना नानावृत्तिवीचिचयोपेतायाः चेतनानद्याः स्वरूपम्।

दशरूपककारेण तु चतुर्विधरसाश्रितं चातुर्विध्यमेतासां चित्तवृत्तीनां प्रत्यपादि। तथा हि—

स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः।।
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां तथैव हि।।
अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।। (दशरू.४।४३-४५)

शङ्कुकश्चाह—

प्रतिभाति न सन्देहो न तत्त्वं न विपर्ययः।
धीरसावयमेवेति नासावेवायमेति च।।
विरुद्धबुद्धिसम्भेदादविवेचितसम्प्लवः।
युक्त्या पर्यनुयुज्येत स्फुरन्ननुभवः कया।।

चेतनाया व्यापकीभवनमपि अलम्भावे भवत्येव। लौकिकवस्तूनां साक्षात्कारेऽपि चेतना व्यापकीभवति। तद्यथाऽऽह भास्करकण्ठः—'ग्रहणसमये भावस्य मायया भावत्वेन भासितं निजं सहजशुद्धप्रकाशाख्यं स्वरूपमेव प्रमातारं प्रति स्फुटीभवति यतः, तदा प्रमाता तद्वस्तु प्रति दिदृक्षासमये व्यापकीभवति। यदुक्तम्—

दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते।।

व्यापकीभवनञ्च तद्वस्तु स्वात्मसात् करोति तन्मयीभावासादनं च वस्तुतः शुद्धप्रकाशरूपत्वासादनमेव, प्रमातुः शुद्धप्रकाशमात्ररूपत्वात्'। इति।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे द्वितीयेऽधिकरणे अलम्भावनिरूपणं नाम तृतीयोऽध्यायः ।।

●

।। अथ अलङ्कारविभागनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।

अलङ्कारा द्विविधाः—आभ्यन्तराश्च बाह्याश्च।।२।४।१।। पर्याप्ति-वारण-भूषण-प्रक्रियाभिः आध्यात्मिकाधिदैविकाधि-भौतिकभेदेन इमे पुनस्त्रिविधाः।।२।४।२।। पुनश्च पदपदार्थ-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्ध-गतत्वेन पञ्चविधाः।।२।४।३।। त्रिविधाश्च शब्द-व्यापारदृशा।।२।४।४।।

प्रथमं तावद् अलङ्कारो द्विविधः—आभ्यन्तरवर्ग-बाह्यवर्गगतत्वेन। येषु सत्सु काव्यं प्रजायते, यान् विना काव्यं न प्रसरेत् तेऽलङ्कारा आभ्यन्तराः। इमे क्वचित् काव्यसंरचनायाम् अप्रकटीभूता अव्यक्तास्तिष्ठन्ति, क्वचित्तु प्रकटिताः। परन्तु सर्वत्र काव्यरचनायां कवेर्मानसे अन्तस्तिमिता भवन्ति, काव्येऽपि चान्तर्व्याप्तास्तिष्ठन्ति।

बाह्य इति कथनेन आभ्यन्तरवर्गापेक्षयैव बाह्यत्वम्, न तिलतण्डुलवत् काव्ये पृथक्करणीयता। तेन बाह्यालङ्काराणामपि काव्ये समवेतत्वमेव। आभ्यन्तरास्तु यथा अग्नौ उष्णता तथा काव्ये समवेताः। बाह्या अपि समवेता एव काव्ये; परन्तु सर्वत्र स्फुटा न भवन्ति, अग्नेरेव कान्तिमत्ता-ज्वालावच्छिन्नतादिवत्। तेन सर्वषामेवालङ्काराणाम-विभाज्यत्वम्, अपृथग्वर्तित्वं च। भवति चात्र श्लोकः—

पट इव चोतं प्रोतं सूत्रं सूत्रे यथा च वर्णास्ते।
एवं काव्ये चेमेऽलङ्कारा आन्तरा बाह्याश्च।।

अन्यथा विभाजनं निरूपयति—पर्याप्ति-वारण-भूषण-प्रक्रियाभि-रिति। पर्याप्त्याधायकत्वं वारणात्मकत्वं भूषणात्मकत्वं चालङ्कारत्वमिति प्राक् प्रतिपादितमेव। तेन पर्याप्त्याधायकत्वाद् वारणमूलकत्वाद् भूषणाधायकत्वाच्च त्रैविध्यमलङ्कारस्य। त्रिविधस्याप्यस्य आध्यात्मिकाधि-दैविकाधिभौतिकभेदेन त्रैविध्यम्। आत्मनि इति अध्यात्मम्, तत्र भवा आध्यात्मिकाः। इदमत्राकूतम्। कवेः संविदि अन्तरनुस्यूताः परिप्लुता वा

अलङ्कारा आध्यात्मिकाः। प्रायः सर्वेऽपि आभ्यन्तरा अलङ्कारा आध्यात्मिका एव। सङ्ग्रहश्चैतेषां परस्ताद् वक्ष्यते। काव्यसंरचनायां अनुभूयमाना अलङ्कारा आधिदैविका आधिभौतिका वा। तत्र पर्याप्त्याधायका अलङ्कारा प्राय आध्यात्मिका एव, वारणाजन्या आधिदैविकाः, भूषणजनिताश्च आधिभौतिकाः।

पदपदार्थादिगतत्वेन पुनः पञ्चविधत्वमाह—पद-पदार्थ-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगतत्वेन पञ्चविधा इति। एतेषु आभ्यन्तरबाह्यालङ्कारेषु आध्यात्मिकाधिदैविकाधिभौतिकेषु वा केचन पद-पदार्थ-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धेषु यथायोगं समुल्लसन्तः पञ्चविधाः, केचन चतुर्विधास्त्रिविधा द्विविधा वा ज्ञेयाः। विभागश्चैषां तत्तदलङ्कारप्रतिपादनावसरे प्रतिपादयिष्यते।

एवं च शब्दवृत्तिदृशा केचन अलङ्कारा वाच्यगताः, केचन लक्षणामूलाः, केचन व्यञ्जनामूलाश्चेति त्रैविध्यम्।

रुद्रटेन तु वास्तवौपम्यातिशयश्लेषेति चतुर्षु वर्गेष्वलङ्कारा विभाजिताः। रुय्यकश्चालङ्कारसर्वस्वे सादृश्य-विशेषण-गम्यार्थता-विरोध-शृङ्खला-न्याय-गूढार्थ-विच्छित्तीति मूलानि अलङ्कारविभागस्य ऊरीकुरुते। सर्वमिदमकिञ्चित्करम्।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे द्वितीयेऽधिकरणे अलङ्कारविभागनिरूपणं नाम चतुर्थोऽध्यायः ।।

●

।। अथ आभ्यन्तरालङ्कारनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः ।।

आभ्यन्तरा एकादश।।२।५।१।।

आभ्यन्तरा अलङ्कारा एकादश सन्ति। तद्यथा—

आभ्यन्तरा अलङ्कारा प्रेमाऽऽह्लादो विषादनम्।
विभीषिका तथा व्यङ्ग्यं कौतुकं च जिजीविषा।।
अहङ्कारः स्मृतिः साक्ष्यमुदात्तमिति ते स्मृताः।।

एते आभ्यन्तरा अलङ्काराः समस्तेषु काव्येषु परिव्याप्ताः। एवेष्वेव रसानामन्तर्भावः।

भोजराजस्तु सरस्वतीकण्ठाभरणे द्वादशरसानाह—

शृङ्गारवीरकरुणरौद्राद्भुतभयानकाः।
बीभत्सहास्यप्रेयांसः शान्तोदात्तोद्धता रसाः।।

तत्र वक्ष्यमाणे प्रेमालङ्कारे शृङ्गारस्य प्रेयसश्च, विरोधे चोद्धतस्यान्त-र्भावः। उदात्तस्तु अस्माभिरूरीकृत एव। अन्येषामपि रसानामुक्तेष्व-लङ्कारेष्वन्तर्भावो यथावसरं विचारयिष्यते।।

प्राणिषु परस्परमहैतुकी संवेदना प्रेमा।।२।५।२।।

प्राणिनो यत् परस्परमाकृष्टा भवन्ति, स्निह्यन्ते, रागात्मकेन सूत्रेण परस्परमनुस्यूता जायन्ते, परस्परस्य साहाय्यं विदधति तस्य सर्वस्य नापातत: कोऽपि हेतुः। न चैतस्य सर्वस्याकर्षणस्य स्नेहस्य अनुबन्धानां साहाय्यानां वा ते किमपि प्रतिदानं वाञ्छन्ति। पारस्परिको अयमेव भावः प्रेमा। अयमेव चेश्वरः। अयं सर्वेषां जन्तूनां हृदि तिष्ठति। यदुक्तं गीतायाम्—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।

अस्य च प्रेम्णोऽनिर्वाच्यत्वान्न न किमपि कारणं तर्काश्रितं वक्तुं शक्यते। तद्यथोक्तं भवभूतिना—

अहेतुः पक्षपातो यस्तस्य नास्ति प्रतिक्रिया।
स हि स्नेहात्मकस्तन्तुरन्तर्भूतानि सीव्यति।। इति।

यथा कविः काव्यरचनया आपाततो न किमपि भौतिकं फलं वाञ्छति, न च भौतिकलाभाय कवयति, तथैव काव्याङ्कुराणामिव प्रेम्णोऽङ्कुराणामप्युद्गतिः। इयमात्मविस्तृतेरात्माविष्कारस्यैव सहजा प्रक्रिया यत् परस्परेण प्रेमप्रवृत्तिर्नाम। यथा परमपुरुषविषये श्रुतय आहुः— सोऽकामयदेकोऽहं बहु स्याम, प्रजायेयेति, तद्वदियं प्रेमप्रवृत्तिः एकस्य बहुलीभवनम्, आनन्त्यानुभवार्थं च भवति। इदं च प्रेम सर्वेषु जन्तुषु परिव्याप्तम्। काव्ये कलासु च रति-स्नेह-वात्सल्य-कृपाऽनुग्रह-श्रद्धा-भक्ति-मङ्गलाशंसा-सौहार्द्रादि-नानारूपेषु अस्य समुल्लासो भवति। वेदान्ते यद् ब्रह्म तदेव काव्ये कलासु च प्रेम। भवन्ति चात्र श्लोकाः—

यानि सर्वाणि काव्यानि कला या विविधाः स्मृताः।
जगतः सर्वकार्याणि प्रेम्णि तानि श्रितानि वै।।

विकाराञ्छ्रयते नानाविधान् किलायमेव तान्।
स्थायिव्यभिचारित्वात् प्राचीनैरिह कीर्तितान्।।

कविः प्रेमपरिस्पन्दप्रेरितो हि प्रवर्तते।
रचनायां तथैवासावास्वादे चैव भावकः।।

यदुक्तं भट्टनायकेन—यावत् पूर्णो न चैतेन तावन्नैव वमत्यमुम्। अयमेव प्रेमा काव्ये नानाविकारान् भावाँश्च श्रयते। विश्वेश्वर आह अलङ्कारकौस्तुभे—

उन्मज्जन्ति निमज्जन्ति प्रेम्ण्यखण्डरसत्वतः।
सर्वे रसाश्च भावाश्च तरङ्गा इव वारिधौ।। (अ. कौ., पृ. १४८)

न च केवलं कान्ताविषयकरतिस्थायी शृङ्गाररस एवास्य प्रकर्ष इति शक्यते वक्तुम्। न च प्रेम्णो नानारूपेषु तारतम्यमिति वक्तुं युज्यते। न च प्रेम्ण इदं रूपं केवलं कान्ताविषयिणी रतिः, इदं केवलं

वात्सल्यम्, इदं केवलं सौहार्द्रमिति पृथक् पृथग् विभागोऽपि पारमार्थिकः। तद्यथाऽऽह कालिदासीयो नायकः—गृहिणी सचिवः सखी मिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधाविति। यदि भेदोऽयं न पारमार्थिकस्तर्हि तदाधारेण व्यवस्थापितं तारतम्यमेकस्मिन् रूपे रसत्वं प्राप्ते महारस इति, अन्यस्य च केवलं भाव इति संज्ञाकरणमपि न परमार्थतयोचितम्। न च सर्वत्र संज्ञाकरणं व्यवहार्यं वा। तथा हि अथर्ववेदे पृथिवीसूक्ते उक्तम्—

यत् ते भूमे निखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पितम्।।

अत्र भूमे मातर्यदहं त्वयि खनामि तेन ते मर्मपीडा हृदयव्यथा न स्यादिति यो भावः प्रकटीकृतः, स मातरं प्रति स्नेहो वा, चिन्ता सञ्चारी-भावो वा धरित्र्याः कणे कणे चैतन्यदर्शनं वा आत्मतत्त्वस्य अणुपरमाणौ अवलोकनं वेति इदमित्थन्तया परिभाषाभिर्बद्धुं न शक्यते। एतच्च प्रेम क्वचिदभिधया वाक्यमात्रेण प्रतिपाद्यमानमप्यलङ्कारतां याति। यथा भवभूतेः —

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगुणं सर्वास्ववस्थासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्ययात् परिणते यत्प्रेम सारे स्थितं
भद्रं प्रेम सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत् प्राप्यते।।

अलङ्कारान्तरसंसर्गैः प्रकर्षं याति प्रेमालङ्कारः। वक्ष्यमाणेष्वलङ्कारेषु क्वचिद्विषादनं, क्वचित् तानवं, क्वचिच्च द्वन्द्वं तस्य तीव्रतां समुत्तेजयन्ति। तथा हि गोवर्धनस्य आर्यायाम्—

द्वारे गुरवः कोणे शुकः सकाशे शिशुर्गृहे सख्यः।
कालासह क्षमस्व प्रिय प्रसीद प्रयातमहः।।

अत्र एकतः प्रियस्य सङ्केतेन कर्षिता अन्यत्र गुरुजनपुत्र-शुकादीनामुपस्थित्या सङ्कोचं गमिता वधूस्तत्प्रियश्च द्वन्द्वं तानवं चानुभवतः, तेन प्रेम पुष्यते द्वन्द्वतानवाभ्याम्। न केवलं विप्रयोगे, संयोगेऽपि प्रेमा भवति क्वचिद् विषादानुविद्धम्। यथा पुनस्तस्यैव—

दुर्गतगृहिणी तनये करुणार्द्रा प्रियतमे च रागमयी।
मुग्धा रताभियोगं न मन्यते न प्रतिक्षिपति।।

अत्र प्रेम्णा विषादोऽनुविद्धः।

अयं च प्रेमा बन्धदृशा त्रिविधः—वाक्यगतः प्रकरणगतः प्रबन्धगतः वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। तत्र वाच्यस्तु पूर्वं भवभूतेरुक्तिषूदाहृतः। वाक्य-गतोऽप्युपरिष्टाद् गोवर्धनोक्त्योः। प्रकरणगतो यथा अभिराजराजेन्द्रस्य शतपर्विकाकथायाम् पितुर्दुहितरं प्रति प्रेमोद्रेकः। प्रबन्धगतो यथा उत्तररामचरिते शाकुन्तलादौ वा। अस्मिन्नेव प्रेमालङ्कारेऽलङ्कारान्तरसंयोगो यथा—

आह्लादश्च विषादश्च कौतुकं च जिजीविषा।
स्मृतिः साक्ष्यमिमे प्रेम्णि ह्यलङ्काराः समन्विताः।।

अथ आह्लादः—

आह्लादस्तु आनन्त्यानुभूतिः।।२।५।३।।

अलम्भावाधानेन काव्ये आनन्त्यस्य यः समुल्लासः कवेर्भावकस्य वा संविदि आनन्त्यानुभवं जनयति स आह्लादालङ्कारः। नेयमनुभूतिः केवलं सुखात्मिका; अपि तु सुखदुःखसम्भेदात् समुद्भवति। आनन्द-समुद्भवस्य आनन्ददायकस्य हास्यरसस्यास्मिन्नेव आह्लादेऽन्तर्भावः। तद्यथा—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते।।

पूर्ववदस्यापि वाक्यप्रकरणप्रबन्धगतत्वमूह्यम्। प्रेमालङ्कारे ये ये अलङ्काराः समन्विता भवन्ति तेऽत्रापि स्युः।

इष्यमाणार्थानामसिद्धौ विरुद्धानां च सम्प्राप्तौ विषादनम्।। २।५।४।।

यथा वाल्मीकेर्निषादविद्धाण्डजविलोकनजो विषादः काव्य-परिणतिमधत्त। जयदेवस्तु चन्द्रालोके—'इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्ति'रित्येव

लक्षणं विषादनस्याह। तदेव समर्थयन्ति जयदेवव्यतिरिक्तास्तत्परवर्तिनः अप्पयदीक्षित-पण्डितराज-चिरञ्जीव-भट्टदेवशङ्कर-विश्वेश्वर-श्रीकृष्ण-ब्रह्मतन्त्राः। इमे षडेव आचार्या विषादनमलङ्कारं प्रतिपादयाम्बभूवुः। तत्पूर्ववर्तिषु न कोऽप्यस्यालङ्कारस्य नाम जग्राह। सर्वेऽपीमे सप्त आचार्या विषादनस्य इष्यमाणविरुद्धार्थसम्प्राप्तिरिति लक्षणं स्वीचक्रुः। इष्यमाणासिद्धिजनितो विरुद्धार्थप्राप्तिजनितश्चेति स द्विविधः।

अस्य च पद-पदार्थ-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगतत्वेन पञ्चविधत्वम्। तत्र क्वचिदेकेन पदेन विषादस्य विशिष्य प्रकाशनात् पदगतो विषादनालङ्कारः। तद्यथा मम 'शुष्कं सर' इति काव्ये—

गतं शैवालं तत् परिहसितदर्भाङ्कुरचयं
अतन्द्रा चन्द्राभा तदनु विहता सा कुमुदिनी।
कथञ्चित् तिष्ठन् यो घृणितमलपङ्काकुलजले
परं दीनो मीनः क्व नु खलु सरेत् पक्षरहितः।।

एतच्च स्वनगरगतशुष्कसरोवरस्य वर्णने कविना उक्तम्, पक्षरहित इत्यत्र श्लेषः, अत एव यस्य सज्जनस्य पक्षपातवर्ती नास्ति कश्चन, स कुत्र यात्वित्यर्थेऽपि योजना शक्यसम्भवा, तेन च मनाक् स्फुटितायामप्यन्योक्तौ, प्राधान्यं वस्तुवर्णनस्यैवेति विषादनमेव। अत्र पक्षरहित इति पदं मीनस्य दुरवस्थां सविशेषमनुभावयति। पक्षशब्दस्य परिवृत्त्यसहत्वाद् विषादालङ्कारप्रकाशने प्राधान्यं पदस्यैव। वाक्यगतो यथा—

रात्रिर्गमिष्यति भविष्यति सुप्रभातं
भास्वानुदेष्यति हसिष्यति पङ्कजश्रीः।
इत्थं विचिन्तयति कोषगते द्विरेफे
हा हन्त हन्त नलिनीं गज उज्जहार।।

इयं तावद् विडम्बनैव यद् भ्रमरः कमलान्तर्निरुद्धो न ततो बहिरायातुं समर्थः। वास्तविके जगति न भवति भ्रमरस्तथाऽक्षमो यत्कमलपत्रसम्पुटाद् विनिर्गन्तुं न शक्नुयात्। अत एव समर्थस्यापि तस्य

नियतिनिर्मितकाराया भेदने अक्षमता इति विडम्बना, अस्यामेव कवेर्विषादः। कविर्हि लोके समापतितमिष्यमाणाप्राप्तिजनितं विरुद्धार्थनिष्पत्तिप्रसूतं वा विषादं पश्यति निरूपयति च काव्ये। अत एव लोकगतो विषादो यदा कवेः साक्षात्कारसिद्धो जायते तदा विषादनालङ्कारः। यथा अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य गजलकाव्येऽस्मिन्—

श्रृणोति कोऽपि न मे वाचिकं ददे कस्मै?
वृणोति कोऽपि न मे वाचिकं ददे कस्मै?

प्रकरणगतो यथा अजविलाप-रतिविलापादिप्रसङ्गेषु कालिदासकृतेषु। प्रबन्धव्यापी विषादो यथा रामायण एव। यदुक्तमानन्दवर्धनेन रामायणे हि करुणो रसः स्वयमादिकविना सूत्रितः 'शोकः श्लोकत्वमागतः' इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयते'ति चतुर्थोद्योते। यथा वा बोरिसपास्तरनाककृते डा. ज़िवागो इत्युपन्यासे।

एष विषादनं नामालङ्कारः शब्दवृत्तिगतत्वेन द्विविधः—वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। तत्र वाच्यो यथा—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्ज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ्मोहः स्थगति कथं मन्दभाग्यः करोमि।।

अत्र कविना रामस्य विषादोऽभिधया निवेदित इति वाच्यगतत्वम्। व्यङ्ग्यो यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुज़घनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।

अत्र प्रत्यभिज्ञा वाच्यगता विषादनं च व्यङ्ग्यम्।

अस्य च विषादनस्य भवन्ति तिस्रोऽवस्था सङ्गम-सम्प्लव-विषादोत्तरणाख्याः। तद्यथा—

सुखे विषादधारायाः सङ्गमः सम्प्लवस्ततः।
विषादोत्तरणं चैव तिस्रोऽवस्था विषादने।।

सुखावस्थायां विषादस्य मनागुद्भेदः, तदनन्तरं वारांनिधेरिव तदीयधारायाः पूरोत्पीडः, तस्याश्च अन्ततः उत्तरणमिति तिस्रोऽवस्था विषादनालङ्कारस्य भवन्ति। रघुवंशमहाकाव्ये एतासां सम्यक् प्रतिफलनाद् रघुकाव्यं तावद् विषादनालङ्कारस्यानुत्तममुदाहरणम्। प्रथमसर्ग एव दिलीपस्यानपत्यतादुःखनिरूपणे विषादस्य उद्भेदो भवति। ततश्च अजविलापे दशरथस्य दुःखाघातनिधने रामनिर्वासने सीतापरित्यागे च तस्य सम्प्लवः, अन्ततश्च अग्निवर्णस्य अवसाने पूरोपीत्पीड इवानुभूयते। राज्ञी राज्यं विधिवदशिषद् भर्तुरव्याहताज्ञा इति अन्तिमा पङ्क्तिरस्य महाकाव्यस्य। तयैव विषादोत्तरणम्। बाणभट्टस्य हर्षचरिते सरस्वत्याः शुभ्रहास्यच्छटा दुर्वाससो दारुणशापेन विषाददिग्धेति प्रथमावस्था। अनन्तरं बाणस्य अनाथ इव आहिण्डने, प्रभाकरवर्धनस्य असमयनिधनेन राज्यवर्धनस्य च घातेन विषादस्य विविधा धारा सङ्गत्य निर्मान्ति महदुत्पीडम्।

प्रबन्धे प्रकरणगतं विषादनं जिजीविषान्वितं यदि न भवति, तर्हि विषोपमं निरर्थकप्रलापमात्रं जायते तत्। यदि तु क्वचित् जिजीविषा-रहितमपि विषादनं भवति निरूपणीयं तदपि संक्षिप्तं प्रसङ्गान्तरैर्वा जिजीविषासहितं कृत्वा प्रबन्धे अवतारणीयम्। अतथात्वे दोषः। स च यथा—नागानन्दे मृतं जीमूतवाहनं मत्वा तत्पित्रोरतिकारुणिकोऽपि विलापो न चेतसि श्लिष्यति, नैराश्योपहतत्वात्। तथैव वेणीसंहारे षष्ठाङ्के विपद्ग्रस्तौ भीमार्जुनौ मत्वा द्रौपदीयुधिष्ठिरयोश्चिताप्रवेशचेष्टा विलापाश्च अतितरामुद्वेजका एव। कुमारसम्भवेऽपि रतिविलापप्रसङ्गे पुनः पुनर्दीप्तिरिति रसदोषो मम्मटेनोद्घाटितः। भवति चात्र श्लोकः—

दैन्ये वाथ विलापे वा न काव्यमवसाययेत्।
साहित्ये चैव मरणं न कदापीह काङ्क्षितम्।।

विषादने त्ववश्यं स्यादलङ्कारो जिजीविषा।
विभीषिका स्मृतिः साक्ष्यमित्येतेऽपि च काङ्क्षिताः।।

अथ विभीषिका—

जुगुप्सान्वितं तदेव विभीषिका स्यात्।।२।५।५।।

तदेव विषादनं जुगुप्सयाऽन्वितं सद् विभीषिकालङ्कारं जनयति। अमाङ्गलिकस्य अशुचेर्वा परिजिहीर्षा अत्र व्यज्यते। बीभत्सभयानकरसावस्मिन्नन्तर्भवतः। भवन्ति चास्या विभाषिकाया मानसगता समाजगता युगगता चेत्यादयो बहवो भेदाः। कवेरेकस्या व्यक्तेर्वा मानसगता विभीषिका यथा मम—

एते बुक्कन्ति सन्ध्यायां रथ्याश्वानो हि सङ्गताः।
निर्मक्षिके निशीथेऽथ कुर्वते फेरवा रवान्।।

परायन्त्येव पापानि विहितानि पुरा क्वचित्।
समुत्कानि भवन्त्येव सङ्कुलानि तथान्तरा।।

दिनं पुरा व्यतीतं यच्छ्मशाने भूमिसात्कृतम्।
उत्तिष्ठति तथाऽकस्मात् स्वप्नच्छेदान्नरो यथा।।

अपावृत्य गवाक्षं मे मनसो झाङ्करोत्यथ।
उच्चैःकारं ब्रुवँश्चायमहं भोः समागतः।।

क्वचित्तु कवेरन्तर्जगति विद्यमानो विभीषिकाभावो बहिर्जगति जायमानेन अनर्थेन तुलामधिरोहति। तथा हि हर्षदेवमाधवस्य भूकम्पमिति काव्ये—

ततः पश्चात्/मम हृदयेऽपि/विवराणि सञ्जातानि/मम धैर्यशृङ्गाण्यपि/मृत्तिकागर्भे निमग्नानि/मम मनोऽपि/खण्डशो भूत्वा नष्टम्/मम संवेदनानदी/पातालं गता/मनोरथा ध्वंसा-वशेषतां प्राप्ताः/मम प्रणयोऽपि/अधुनातननिर्जीवमानवता-भारतले/सञ्चलनरहितो जातः/पृथ्वी/स्वकम्पं प्रकटयितुं शक्तास्ति/किन्तु/मदस्तित्वतले यद् यद् भवति/तत् तत् कथम्.....?

सा च विभीषिका द्विविधा—अशुचिदर्शनाज्जायमाना व्यक्तिगतानां समाजगतानां वा दुष्प्रवृत्तीनां दर्शनाज्जायमाना च। आद्याया उदाहरणं

यथा—अभ्यक्तमिव स्नातः शुचिरशुचिमिवेत्यादि-कथनं शाकुन्तले शारद्वतस्य। द्वितीयाया उदाहरणं यथा—जनाकीर्णं मन्ये हुतपरीतं गृहमिवेत्यादि-कथनं शार्ङ्गरवस्य तत्रैव। अशुचिदर्शनाज्जायमाना जुगुप्सा पर्यावरणविनाशं प्रदूषणं वा विशिष्य विषयीकरोति। तद्यथा मम—

यानागमव्यतिकराकुलिताश्च मार्गाः
पित्रोलगन्धपरिपूरितदिङ्मुखास्ते।
धूमः प्रसर्पति च राजपथे पुरेऽस्मिन्
धूलिं बिभर्ति वसुधाऽसितडामराङ्का।।१७।।

धूमावृतानि वदनानि तथाध्वगानां
वायुं प्रदूषणयुतं निगिरन्ति भूयः।
धूल्याकुलानि विविधानि च वाहनानि
निष्पिष्य गाढमिह यान्ति वसन्तशोभाम्।।१८।।

रसध्वनिवादिनां मतेनेह बीभत्सो रसः। अत्र विषादनेन वक्ष्यमाण-विडम्बना-स्मृति-साक्ष्याद्यलङ्कारैश्च सम्भिन्ना प्रभविष्णुतां याति काव्ये। जिजीविषालङ्कारस्तु अत्र अवश्यमन्तर्गर्भः स्यात्। रूप-कान्तर्वर्त्यन्यापदेशमिश्रितेयं सविशेषं चमत्करोति। तद्यथा वेङ्कटरामराघवमहोदयानाम्—

कश्चिद्धंस इतीर्यते शुचिरुचिर्नालैकवृत्तिर्द्विजो
माकन्दाङ्कुरजातपञ्चमकलः पक्षी पिकाख्योऽपरः।
तादृक् कोऽपि न वीक्ष्यते खगवरः किन्त्वद्य सर्वं जगत्
प्रेतक्रव्यपतद्रटत्करटकैराप्लाव्यते केवलम्।।

इयं च विभीषिका समस्तं युगं समाजगतं जीवनं च विषयीकुर्वती व्याप्नोति समग्रं प्रबन्धकाव्यम्। समाजगता विभीषिका यथा उमाशङ्करशर्मत्रिपाठिनः 'अस्पृश्यान्तर्निवेदितम्' इति काव्ये। तथा हि—

द्वारि क्षेत्रे विषमविपथे सक्षमः कर्मसक्तो
द्रागुद्दिष्टो निकृतिपरमः सेवमानः सवर्णान्।
स्मारं स्मारं स्वनियतिफलं व्यस्तकल्याणवर्त्मा
यद्यस्पृश्यो मरणमधिकं काङ्क्षते कोऽत्र दोषः?

युगगता विभीषिका यथा परमानन्दशास्त्रिणो जनविजयमहाकाव्ये आपातकालस्यातङ्कनिरूपणे। तथा हि—

सर्वत्र भीतहृदया मनुजा मनाङ् नो
उत्सेहिरे कथयितुं क्वचिदेकशब्दम्।
इष्टेषु मित्रसुजनेष्वपि संशयाना-
श्चारा यतः प्रतिपदं व्यचरन् हि तस्याः।।

देशो निलम्बितसमस्तजनाधिकारः
किं न प्रतीयत इव स्म विशालकारा।
कारा निलम्बितसमस्तजनाधिकारा
देशस्य किं नहि मता विहितानुकारा।।

अयं च विभीषिकालङ्कारस्तत्त्वदर्शने साक्ष्यालङ्कारे च परिणमति। विषादन-व्यङ्ग्यातिशयच्छायाश्चात्र अन्तर्निहिता भवन्त्येव। विषादनालङ्कार इव अलङ्कारान्तरसंयोग इह काम्यः।

विरूपीकरणं व्यङ्ग्यम्। विडम्बना वा।।२।५।६।।

व्यङ्ग्यं विकलाङ्गत्वं वा, आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकलोकेषु यद्यद् वैकल्यं तत्तदनेन निरूप्यते। विडम्बना अस्यैव व्यङ्ग्यालङ्कारस्य नामान्तरम्। भाण-प्रहसन-शिल्पकादिरूपकोपरूपकेषु व्यङ्ग्यालङ्कारोऽयं काष्ठामधिरोहति। यदा हास्यं विरूपीकरणाय प्रसक्तं, तदा हास्यरसोऽस्मिन्नेव व्यङ्ग्यालङ्कारेऽन्तर्भवति। तच्च द्विविधम्—आत्मस्थं परस्थं च। यदा स्वात्मना आत्मानमेव विडम्बयति तदा प्रथमम्, यदा तु परं विडम्बयति तदा द्वितीयम्। विदूषको नाटकेषु उभयविधमपि व्यङ्ग्यं प्रयुङ्क्ते।

अस्य च व्यङ्ग्यस्य शिल्पकनाम्नि उपरूपके प्रयोगो भरतमुनेः शिष्यैरिदम्प्रथमतया विहितः। स च प्रयोग इत्थं भरतमुनिना वर्णितः—

कस्यचित्त्वथ कालस्य शिल्पकं ग्राम्यधर्मकम्।
ऋषीणां व्यङ्ग्यकरणं कुर्वद्भिर्गणसंश्रयम्।।
निष्ठुरं चाप्रस्तुतं च काव्यं संसदि योजितम्।।

अभिनवगुप्तस्तु विडम्बकम् इति पाठान्तरमत्र स्वीकुरुते, विडम्बकं गण्डसंश्रयमिति व्याचष्टे च। इत्थं विडम्बना व्यङ्ग्यमिह एकस्यैवालङ्कारस्य नामनी।

इयं च विडम्बना क्वचिच्छब्दोपात्ता, क्वचिच्च अर्थावसेया। तथैव वाक्यगता, प्रकरणगता, प्रबन्धगताऽपि। तत्र शब्दोपात्ता यथा भर्तृहरेः—

अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी
गुरुतरगुणग्रामाम्भोजस्फुटोज्ज्वलचन्द्रिका।
विपुलविलसल्लज्जावल्लीविदारकुठारिका
जठरपिटरीदुष्पूरेयं करोति विडम्बनाम्।।

(शतकत्रयादिसुभाषित-सं. २०७,
महासुभाषित-सं., भाग-२, २३०२)

इयं च विडम्बना व्यङ्ग्यगर्भा अन्यापदेशेन पुष्णाति कामपि कान्तिं काव्ये। तद्यथा जगन्नाथपाठकस्य—

जलमध्यगता महोर्मयो मम नावं तटभूमिमानयन्।
तटभूमिगता लघूर्मयो मम नावं शनकैर्न्यमज्जयन्।।

यथा वा अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य—

गृहदीप एव गृहं दहेद् भगवन् किमत्र विधीयताम्।
ननु मित्रमेव रिपुर्भवेद् भगवन् किमत्र विधीयताम्।।

अत्र ये दूरस्थास्तेभ्यः साहाय्यं, ये च नेदीयांसो विश्वस्तो वा तेभ्य एव प्रतारणा विश्वासघातश्चेति विडम्बना व्यज्यते।

इदं च व्यङ्ग्यं (विडम्बना वा) क्वचिदेकेनैव वाक्येन समस्तयुगगतां कालगतां वा विसदृशतामननुरूपतां वा विषयीकुर्वत् महावाक्यायते। यथा बच्चूलालावस्थिवर्याणाम्—

खरास्तारं विरेभन्ते न जाने कस्य लीलेयम्।
हया आकर्ण्य लज्जन्ते न जाने कस्य लीलेयम्।।

उत्प्रासः क्षोभ ईर्ष्या चेमे भावा अत्र सङ्गच्छन्ते। तथा हि शङ्करदेवावतारे इत्यस्य कवेः—

यस्यास्ते लोकनिन्दा प्रथितचरितता गुर्ववज्ञागुरुत्वं
धर्माख्यानोपहासो हृदयविपुलता स्वैरिता स्वाभिमानः।
औद्धत्यं वीरकृत्यं नियमगतिविधित्रोटनं नव्यदृष्टिः
आतङ्कश्चाधिकारो जगति विजयते सोऽधुना क्रान्तिकारी।।

सत्यान्वेषणं चास्य व्यङ्ग्यप्रयोजनम्। तद्यथाह अभिराजराजेन्द्रमिश्रः—

धृतं नेत्रयोर्हन्त कृष्णोपनेत्रम्।
दिनं दूष्यते तन्निरर्थं कथम्भोः।।

प्रकरणगता विडम्बना यथा वसन्तत्र्यम्बकशेवडेकविकृतं गर्दभाख्यानं लघुकाव्यम्। प्रबन्धगतव्यङ्ग्यस्योदाहरणानि सन्ति हरिभद्रसूरेर्धूर्तोपाख्यानं प्राकृतभाषायां विरचितम्, मम वा विक्रमचरितम् आख्यानम्।

अथ कौतुकम्—

कुतूहलं तु कौतुकम्।।२।५।७।।

रचनाप्रक्रियायां जगतो नाना भावान् कविरपि कौतुकान्वितः पश्यति, तदनु निरूपयति च तान्। अतश्च कौतुकं काव्ये प्रतिफलति अलङ्करोति च काव्यम्। अद्भुतस्य रसस्य चास्मिन्नन्तर्भावः। पूर्ववत् पद-पदार्थ-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगतत्वेनास्यापि पञ्चविधत्वम्। तथैव वाच्यगतत्वेन व्यङ्ग्यगतत्वेन च द्वैविध्यम्। तत्र वाक्यस्थं वाच्यगतं व्यङ्ग्यं च यथा—

तनुते न विस्मयं किं राष्ट्रस्य राजधानी।
कुरुते न दुर्नयं किं राष्ट्रस्य राजधानी।
का वा कथा तिलानां सिकताचयादपीयम्।
चुच्यति निकामतैलं राष्ट्रस्य राजधानी।।

अत्र पूर्वार्धे विस्मय-दुर्नयादीनां कण्ठत उक्तेर्वाच्यत्वम्, सिकताचयादपि तैलच्यावनशक्यतया असम्भवमपि कार्यं सम्पादयतीति व्यङ्ग्यत्वादुत्तरार्धे व्यङ्ग्यं कौतुकम्।

प्रकरणगतं यथा मम आल्प्सपर्वते मेघदूतमिति काव्ये—

एकश्चाल्प्स: स्थगयति मन: शृङ्गभङ्गै: स्वकीयै-
रुच्छ्रायैर्वोच्छ्वसितमपि यद् दृष्टमात्रो रुणद्धि।
वक्तव्यं तत् किमु यदि गिरावद्भुत: श्यामकभ्र:
संवर्तोऽयं समजनि पुनर्मेघवृक्षाभ्रयोगात्।।

यथा दण्डिनो दशकुमारचरिते उपहारवर्मापहारवर्मार्थपाल-प्रभृतिकुमाराणां राजहंसेन समागमस्य तत्तद्वृत्तान्तेषु, राजवाहनेन किरातवेषधारिणे विप्रस्य दर्शने विप्रस्य वृत्तान्ते च। यद्वा महाभारते लाक्षागृहप्रवेशादिविविधवृत्तेषु। प्रबन्धगतं च समग्रेऽपि दशकुमारचरिते एवमेव कथासरित्सागरे च व्यवस्थितमेव। समग्रस्य कथासाहित्यस्य प्राणभूतोऽयमलङ्कार:, यं विना न कापि कथा प्रसरति, प्रसृता वा अनवधेया अश्राव्या अपाठ्या वा भवति। एतस्मादेव कारणाद् विश्वनाथपितामहो नारायणोऽद्भुतमेव रसं महारसमिति प्रतिष्ठापयति स्म। प्रेमाह्लादजिजीविषाभि: स्मृतिभिर्व्यतिकरितं कौतुकं सविशेषं रमयति काव्ये।

अथ जिजीविषा—

जीवनेच्छा जिजीविषा।।२।५।८।।

जीवनं तु प्राक् कीर्तितम्, एतेषां त्रयाणामाधिभौतिकाधि-दैविकाध्यात्मिकलोकानां सकल: समुल्लास इति। एतत्समुल्लासमाधातुं या इच्छा सैव जिजीविषा। आशा चास्था च विश्वास इमे सह तरङ्गिता:। कवेरेव जिजीविषा स्वत: स्फूर्ता विविधभावभङ्गिमानं गाहते। प्राचीनै: प्रतिपादितस्य वीररसस्यास्मिन्नलङ्कार एवान्तर्भाव:। एषा जिजीविषा तेषु तेषु प्रसङ्गेषु यथा जीवने व्यक्ता भवति तथैव काव्ये। अस्याश्च पद-पदार्थ-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगतत्वेन पञ्चविधत्वम्। पदगता यथा—अग्रतस्ते गमिष्यामि मृद्नन्ती कुशकण्टकानित्यादि वनं यियासुं रामं प्रति सीताया: कथने मृद्नन्तीत्याख्यातप्रयोगेण सविशेषं जिजीविषा द्योत्यते। वाक्यगता वाच्या यथा—

विनाशे बहवो दोषा जीवन् पश्यामि भद्रकम्।
कल्याणी बत गाथेयं लौकिकी प्रतिभाति माम्।।
एति जीवन्तमानन्दो नरं वर्षशतादपि।।

इति रामायण एव हनूमत उक्तौ। अत्र आह्लादालङ्कारस्य पोषकत्वे सद्भावः।

प्रकरणगता यथा—रामरावणयोर्युद्धे रामस्य निखिलं पराक्रमान्वितं चरितं जिजीविषां पुष्णाति; यथा वा—रघुवंशादौ रघोः इन्द्रं प्रतिगृहाण शस्त्रं यदि सर्ग एष ते न खल्वनिर्जित्य रघुं कृती भवानित्यादि-कथनैः समं निरूपिते इन्द्रविहितयज्ञीयाश्वप्रत्यावर्तनाय विहितस्य च तदीयोद्यमस्य वर्णने।

समाजस्य राष्ट्रस्यापि भवति जीवनम्। अत्रैव विश्राम्यति स्वातन्त्र्यभावना देशस्य समाजस्य च मुक्तिकामनाऽपि। तस्य जीवनस्य धारणेच्छा काव्ये यदा उल्लसति तदा भवति जिजीविषालङ्कारस्य कश्चन श्लाघ्यः समुन्मेषः काव्ये। यथा बटुकनाथखिस्तेवर्यस्य बाङ्ग्लादेशमुक्ति-वाहिनीमुद्दिश्य—

स्वतन्त्रतानुरागरक्तमानसोच्छलद् रसैः
सुवर्णबङ्गभूमिमानरक्षणे दृढव्रतैः।
वसुव्ययैरसुव्ययैरपि प्रमत्तयौवनै-
र्नवाभिमन्युसैनिकै रराज मुक्तिवाहिनी।।

प्रबन्धगता जिजीविषा यथा किरातार्जुनीये सर्वत्र विजिगीषारूपेण अर्जुनस्य जिजीविषा प्रतिष्ठिता।

'अतः प्रकर्षाय विधिर्विधेयः प्रकर्षतन्त्रा हि रणे जयश्रीः' इति यद् भगवता व्यासेन सूत्रितं तदेव स्वचरित्रेऽवतारयति नायकः। तदेव च पुनः पुनर्विस्तारितम्—

मदसिक्तमुखैर्मृगाधिपः करिभिर्वर्तयते स्वयं हतैः।
लघयन् खलु तेजसा जगन्न महानिच्छति भूतिमन्यतः।।

ज्वलितं न हिरण्यरेतसं चयमास्कन्दति भस्मसां जनः।
अभिभूतिभयादसूनतः सुखमुज्झन्ति न धाम मानिनः।।

इत्यादिसंवादैः।

शब्दवृत्तिदृशा द्विविधोऽयमलङ्कारः—वाच्यो व्यङ्ग्यश्च। तत्र वाक्यगता वाच्या यथा ममाद्यापिलहर्याम्—

एते भवन्ति पलिता अधिमस्तकं मे
केशास्तथापि विरता न जिजीविषेयम्।
अद्यापि दक्षिणकरस्य दृढो ग्रहो मे
यावल्लिखामि कलमेन च कम्पहीनः।।

व्यङ्ग्या यथा किरातार्जुनीये—

उन्मज्जन्मकर इवामरापगायामावेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः।
गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमलोचनस्य वक्षः।।
(१७।६३)

अत्र निःशस्त्रः किरातवेषधारिणा शिवेन युध्यन् सर्वथा श्रान्तोऽप्यर्जुनोऽपराहत एवेति जिजीविषाया पराकाष्ठा व्यज्यते।

अथ अहङ्कारालङ्कारः —

आत्मनोऽनुभवस्त्वहङ्कारः।।२।५।९।।

आत्मा वै ज्ञातव्यः श्रोतव्यो मन्तव्य इति समामनन्ति श्रुतयः। आत्मस्थ एव योगी समाधौ तत्त्वं पश्यति। आत्मस्थ एव रचनाकारः कवयति। या वाक् रचनाया मूलं साऽपि आत्मनि स्थिता इत्थं विभावयति आत्मनो रूपम्—

अहमेव स्वयमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।।

आत्मनि स्थितः कविः प्रजापतिरिव भवति। स च उदात्तोद्धत-प्रौढविनीतेति चतुर्धा। सर्वेषामेव अहङ्कारोऽभिव्यक्तिमुपयाति काव्ये, क्वचिद् वाच्यत्वेन, क्वचिद् व्यङ्ग्यत्वेन, क्वचित् प्रत्यक्षः, क्वचिच्च

परोक्षः। यः खलु परोक्षोऽहङ्कारः स तु समग्र एव प्रबन्धे महाकाव्यादौ भवति निगूढः, ऋते तं न काव्यं प्रसरेत्। कविरेव नानापात्रेषु आत्मानं सङ्क्रामयति। अयमेव परोक्षोऽहङ्कारः। स एव काम्यः। क्वचिद् वाच्यः प्रत्यक्षोऽपि वा शोभते। स च उदात्तस्य कवेर्यथा—

उद्धतस्य यथा पण्डितराजस्य—

गिरां देवी वीणा गुणरणनहीनादरकरा
यदीयानां वाचममृतमयमाचामति रसम्।
वचस्तस्याकर्ण्य श्रवणसुभगः पण्डितपते-
रधुन्वानो मूर्धानं नृपशुरथवाऽयं पशुपतिः।।

प्रौढस्य यथा—

मन्दः कवियशःप्रार्थी गमिष्याम्युपहास्यताम्।
प्रांशुलभ्ये फले लोभादुद्बाहुरिव वामनः।।

अत्र न वस्तुतः कालिदास आत्मानं वामनं मनुते, न वा स्वस्य कृते वामनमुपमानं मानयति। यद्यहं मन्दः स्याम्, कवियशःप्रार्थी स्याम्, तदा तु उपहासास्पदमेव स्यामिति विमर्शस्तस्यात्र अभिव्यक्ति गतः। अतः प्रौढस्य कवेरयमहङ्कारः। आत्मानुभूतिरेव काव्यमिति पाश्चात्त्याः। यद् यद् आत्मानुभूतिरिति ते उदाहरन्ति तत्तद् वस्तुतोऽहम्भावस्याभिव्यक्तिः। रौद्ररसस्यास्मिन्नन्तर्भावः। अहम्भावोऽपि द्विविधः—आत्मस्थः परस्थश्च। परस्थो नायकादौ। आत्मस्थस्तु कविगतः। स यथा—

वयांसि मम सप्ततेरुपरि नैव भोगे स्पृहा।
न किञ्चिदहमर्थये शिवपदं दिदृक्षे परम्।।

इत्यप्पयदीक्षितपादाः सिद्धान्तलेशसङ्ग्रह आहुरिति चित्रमीमांसाया हिन्दीभाषानुवादकस्य तथैव वृत्तिवार्तिकोपोद्घाते वायुनन्दनपाण्डेयस्य च मतम्। नायकगतः परस्थो यथा—

अहो अहो नमो मह्यं यदहं वीक्षितोऽनया।
मुग्धया मत्तसारङ्गचपलायतनेत्रया।।

अत्र नायिकादर्शनेन नायकस्य अहम्पूर्विका प्रतीतिः।

अहङ्कारालङ्कारश्चायं प्रायो वक्ष्यमाणसाक्ष्यालङ्कारसङ्करेण काव्ये समायाति। यदा कविः स्वयं तेनोम्भितं पात्रं वा आत्मना आत्मानमेव अवेक्षमाणः स्वगतोक्तिं विधत्ते, तदा तु साक्ष्यालङ्कार एव। तथा हि—

दृष्टः स जगन्नाथो मध्ये प्रवाहपतितानाम्।
स्यात् स्वयमेव गतोऽपि स्यादथवा केनचिन्नीतः।।

अत्र कविर्जगन्नाथपाठकः आत्मानमात्मना अपोद्धृत्य एवं जना मां प्रति व्यवहरन्तीति पश्यति। तथैव भर्तृहरेरुक्तौ—

त्वं राजा वयमप्युपासितगुरुप्रज्ञाभिमानोन्नताः
ख्यातस्त्वं विभवैर्यशांसि कवयो दिक्षु प्रतन्वन्ति नः।
इत्थं मानद नातिदूरमुभयोरप्यावयोरन्तरं
यद्यस्मासु पराङ्मुखोऽसि वयमप्येकान्ततो निःस्पृहाः।।

(वै.श. २४)

न वा एकाकितामयं पुष्णाति। स्वीयेऽहङ्कारे एकाकी सन्नपि विराड्विश्वेन आत्मानं योजयति कविः। तथा हि—

भ्रमत्कुलालचक्रेऽपि स्वैरं याति पिपीलिका।
तथा समाजयात्रायां सङ्गतोऽस्मि पृथक् चलन्।।

अयमलङ्कारो वाच्य एव शोभते। व्यङ्ग्योऽपि यथा— मालविकाग्निमित्रे पुराणमित्येव न साधु सर्वमिति कथयता कालिदासेन गुप्ताहङ्कारभणित्यौदात्त्येन प्रकटीकृतः स्वमहिमा। सत्यामप्यतिशयोक्तौ आत्मन एव आकलनमात्मपरीक्षणं च विशिष्य अस्मिन्नलङ्कारे कविना कविनिबद्धेन वा पात्रेण विधीयते। तेन उदात्तोक्तिः, दर्पोक्तिः, विनयोक्तिरित्यादयो भेदा ऊह्याः। दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

दासोऽस्मि वाण्याः सुरवाग्विकासो
भासोऽस्मि नाट्ये च कलाविलासः।
काव्येऽस्मि रम्ये किल कालिदासो
व्यासोऽस्मि नव्यश्च नवः समासः।।

धन्योऽस्मि सृष्टेः किल सर्वनिष्ठं
प्रेष्ठं वरिष्ठं च वहामि तत्त्वम्।
यद्यप्यतीवास्मि लघिष्ठ एव
प्रेष्ठो जनानां भवितुं समीहे।।

प्रबन्धगतोऽहङ्कारालङ्कार आत्मकथासु उत्कर्षं लभते, उदाहरणानि यथा विंस्टनचर्चिलस्य जवाहरलालनेहरोर्वाऽऽत्मकथे अथ आङ्ग्ल-भाषायाम्। एतच्च आत्मकथाविमर्शे पुनर्निरूपयिष्यामः। साक्ष्यालङ्कारे क्वचिदुदात्तालङ्कारे चायमहङ्कारः परिणमति।

अथ स्मरणालङ्कारः—

पूर्वानुभूतस्य पुनरुन्मीलनं स्मृतिः।।२।५।१०।।

पुनरुन्मीलनान्नवत्वम्। तच्च प्रत्यक्षमेवानुभूतं स्यादिति नावश्यकम्। यत् शास्त्रेषु इतिहासे अन्यत्र पठितं यच्च आप्तेभ्यः श्रुतं तस्य स्मृतिर्यदा काव्येऽभिव्यक्तिमुपगच्छति तदापि स्मृतिरलङ्कारः। तद्यथा शाकुन्तले—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जन्तुः।
तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावस्थिराणि जननान्तरसौहृदानि।।

घटनाविशेषस्मृतिः, इतिहासस्मृतिः, युगस्मृतिरिति भवन्ति अस्यालङ्कारस्य नानाभेदाः। तथैव पद-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगता अपि भेदाः। पदगता यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः।।

अत्र अयं स इति सर्वनामभ्यां प्रत्यभिज्ञाप्रत्ययेन सविशेषमुद्घाट्यते स्मृतिरिति पदगतत्वमिह तस्या मुख्यतः। अत्र शृङ्गारो रस इति मम्मटमतं वितथमेव, स्मृतिसहचरितस्य प्रत्यभिज्ञालङ्कारस्यैवात्र प्राधान्यात्। वाक्यगता यथा अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य—

पल्वलविहारलीलानिरता नु सा विहङ्गी।
सा त्वं गृहाङ्गणे मे कथमद्य विस्मरेयम्?
स्वकुलायलीनवयसां चुङ्कृतिरहो स्फुटा सा।
वार्तारसो मिथोऽसौ कथमद्य विस्मरेयम्?

प्रकरणगता यथा मम—

गोष्ठ्यां मया स्वविषये प्रतिपाद्यमाने
वाचां प्रवाह इव मे सतृणं पिबन्ती।
नेत्रेण शब्दसरितं खलु वाहयन्ती
सस्मेरसस्मितमुखी स्फुरिताधरोष्ठी।।

अद्यापि मे स्मृतिमुपैति यदा कदाचित्
काचित् क्वचित् कतिपयानि दिनानि दृष्टा।
क्षीणं ममायुरनिशं परिहीयमानं
वर्षैस्तथा द्विचतुरैः परिवर्धयन्ती।।

प्रबन्धगता यथा शाकुन्तले। तत्र कतमः प्रयोगो भवत्विति विस्मृतवन्तं सूत्रधारं शाकुन्तलमभिनेयमिति नटी स्मारयति। अप्येनं विस्मृतासीति पृच्छन्तीं प्रियंवदां शकुन्तला वदति—तदात्मानमपि विस्मरिष्यामीति। दुष्यन्तस्य स्मरन्ती शकुन्तला अतिथिसत्कारं विस्मरति। विस्मरति च तां दुष्यन्तः, स्मारयति च सा तं पुनः पुनः। प्रत्यागतायां शकुन्तलास्मृतौ समग्रमपि षष्ठाङ्कं नायिकास्मृतिभिर्व्याप्तम्। यथा वा उत्तरचरिते आप्रथमाङ्कादाचरमाङ्काच्च स्मृत्यलङ्कारः किमपि वैशिष्ट्यं नाट्यसंरचनायामादधाति। प्रथमाङ्क एव चित्रदर्शनप्रसङ्गेन स्मृतीनां वातायनानि बहूनि उद्घाट्यन्ते। स्वकीयस्य पाणिग्रहणस्य चित्रं दर्शं दर्शं मुदितो रामो ब्रवीति—समयः स वर्तत इव यदा गोतमार्पितः आगृहीतकमनीयकङ्कणस्तव मूर्तिमान् महोत्सव इव करो मां समनन्दयदिति। स्मरति वा तस्य समयस्यार्यपुत्र इति सीतया पृष्टः पुनरसावादीत्—स्मरामि, हन्त स्मरामि, जीवत्सु तातपादेषु नूतने दारसङ्ग्रहे, मातृभिश्चिन्त्यमानां ते हि नो दिवसा गता इति। इयमपि

तदा जानकीत्युपोद्घातेन इयं वर्तमाना तदानीं कीदृशी आस इति स्मृतिततय उद्घाट्यन्ते। स्मरसि वा तं प्रदेशमार्यपुत्र इति पृष्टः पुनरसौ—अयि कथं विस्मर्यते, परिमृदितमृणालीम्लानमङ्गानि त्वमुरसि मम कृत्वा यत्र निद्रामवाप्तेति। पुनश्च यत्र रात्रिरेवमेवं व्यरंसीदिति, दिष्ट्या सोऽयं महाबाहुरञ्जनासूनुरिति परापतन्ति भूयस्यः स्मृतयः। द्वितीयाङ्के आत्रेयी कुशलवयोः स्मृतिभिः सम्प्लुतमानसा यथा, तथैव वनदेवता वासन्ती सीतायाः सहनिवासस्मृतिभिः। अथ रामे समायाते तत्रैव शम्बूकस्तस्मै तत्तत्प्रदेशान् दर्शयन् पुनरुद्घाटयति सुप्ताः स्मृतिततीः। तृतीयाङ्केऽपि पञ्चवट्या दण्डकारण्यस्य तांस्तान् प्रदेशान् दर्शं दर्शं रामो सीतां स्मरति। स्मरति गिरिमयूर एष देव्याः, सुतमिव मनसा त्वां वत्सलेन स्मरामि इत्यादिकथनैः पशुपक्षिणामपि तत्र स्मृतिसंवलितत्वं प्रजायते। चतुर्थाङ्के जनकः शिशोः सीतायाः स्मरति वदनकमलकं शिशोः स्मरामि कतिपयकोमलदन्तकुड्मलाग्रमिति निगदन्। षष्ठाङ्के रामः कुशलवौ दृष्ट्वा स्वजीवनगतविपर्यासं स्मरति। पुनश्च—

प्रियागुणसहस्राणामेकोन्मीलनपेशलः।
य एव दुस्सहः कालस्तमेव स्मारिता वयम्।।

पद-वाक्य-प्रकरणगताः स्मृतय इह सहैव सञ्चरन्ति। एवमेव हर्षचरिते कादम्बर्यां बोरिसपास्तरनाकविरचित उपन्यासे डा. ज़िवागो इति संज्ञप्ते सर्वेषु महत्सु प्रबन्धेषु स्मृतिरलङ्कारत्वेन विरचयति पूरोत्पीडं भावनानाम्।

इत्थं च काव्येषु स्मृत्यलङ्कारः प्रत्यक्षं परोक्षं वाऽनुविद्धो समस्तानामनुभवानां जनयिता जायते। तत्र क्वचित् तन्मयीभवनं चेतनाया व्यापकीभवनं च भवति। यथा मालतीमाधवे नायकस्य मालत्याः स्मरणम्—

मम हि सम्प्रति सातिशयो प्राक्तनोपालम्भसम्भावितात्मजन्मनः संस्कारस्यानवरतप्रबोधात् प्रतायमानस्तद्विसदृशप्रत्ययान्तरैरतिरस्कृतप्रवाहः प्रियतमास्मृतिप्रत्ययोत्पत्तिसन्तानस्तन्मयमिव करोत्यान्तर्वृत्तिसारूप्यतश्चैतन्यम्।।

लीनेव प्रतिबिम्बितेव लिखितेवोत्कीर्णरूपेव च
प्रसुप्तेव च वर्जलेपघटितेवान्तर्निखातेव च।
सा नश्चेतसि कीलितेव विशिखैश्चेतोभुवः पञ्चभि-
श्चिन्तासन्ततितन्तुजालनिविडस्यूतेव लग्ना प्रिया।।

वक्ष्यमाणः साक्ष्यालङ्कारो स्मृतौ भवतः सर्वदैव पिनद्धः, सर्वस्याः स्मृतेः साक्ष्यरूपत्वात्। साक्ष्यमिव जिजीविषया उदात्तेनापि स्मृत्यलङ्करणेन सहावश्यं भाव्यम्। प्रेमा, आह्लादो, विषादनं, विभीषिका, कौतुकमहङ्कारश्चेमं स्मृतिमलङ्कारं सविशेषं पुष्णन्ति। इयं उपमाद्यलङ्कारसंसृष्टा विस्मृतिनिषेधप्रवर्तिता वा समधिकं पुष्णात्यभिख्यां काव्ये। एतेन 'सादृश्यं विना तु स्मृतिर्नायमलङ्कारः' इति यदुक्तं रुय्यकेन तदपास्तम्। यत्र यत्र अलम्भावमापादयति स्मृतिर्नाम भावस्तत्र तत्रासावलङ्कारः। काव्येऽलङ्कारत्वेनाधिभौतिकम् आधिदैविकम् आध्यात्मिकं च त्रिविधं जगत् परामृशति। भवन्ति चात्र श्लोकाः—

अलङ्कारः प्रकृष्टः स्यात् प्रबन्धव्यापिनी स्मृतिः।
न काव्यरचना नापि काव्यास्वादः स्मृतिं विना।।

स्मृतिहीना विनश्यन्ते देशा जनपदास्तथा।
पतन्त्यनुद्धृता गर्ते स्मृतिहीनाश्च जातयः।।

नटीव तनुते लास्यं मनसो रङ्गमञ्चके।
लासयन्ती च पात्राणि नाट्ये काव्ये तथा स्मृतिः।।

अथ साक्ष्यम्—

जीवनस्य दर्शनं साक्ष्यम्।।२।५।११।।

जीवनं प्राङ् निरूपितमेतेषां त्रयाणामाधिभौतिकाधि-दैविकाध्यात्मिकलोकानां समं समुल्लासो जीवनमिति। तस्य दर्शनं साक्ष्यम्। तेन कवेः ऋषित्वम्। यथोक्तं तौतेन—'नानृषिः कविरित्युक्त ऋषिश्च किल दर्शनात्'। इदं च दर्शनं सर्वविधकाव्येषु सामान्यमेव। परन्तु यत्र साक्षात्कारप्रक्रिया प्राधान्यं भजते, तत्र साक्ष्यमलङ्कारः। पुरातनैरयमलङ्कारो भाविकनाम्ना वर्णितः। भावश्च साक्षात्कार एव। तन्निष्पत्तेः साक्ष्यं भाविकमिति वा कथ्यते।

भामहमतेन भाविकं नाम प्रबन्धविषयो गुणः। वर्णनीयस्यार्थस्य चित्रता, उदात्तता, विस्मयावहता, कथाया नाट्यायमानता, शब्दानामनाकुलता चेति त्रयोऽस्य भाविकस्य हेतवः।

भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
प्रत्यक्षा इव दृश्यन्ते यत्रार्था भूतभाविनः।।

चित्रोदात्ताद्भुतार्थत्वं कथायाः स्वभिनीतता।
शब्दानाकुलता चेति तस्य हेतुं प्रचक्षते।।

(काव्यालङ्कारे—३।५३-५४)

तद् भाविकमिति प्राहुः प्रबन्धविषयं गुणम्।
भावः कवेरभिप्रायः काव्येष्वासिद्धिसंस्थितः।।

परस्परोपकारित्वं सर्वेषां वस्तुपर्वणाम्।
विशेषणानां व्यर्थानामक्रिया स्थानवर्णना।।

व्यक्तिरुक्तिक्रमबलाद् गम्भीरस्यापि वस्तुनः।
भावायत्तमिदं सर्वमिति तद् भाविकं विदुः।।

(काव्यादर्शे—२।३६४-६५)

रुय्यकस्तु—न केवलं कवेरपि तु सहृदयस्यापि अतीतानागतानां प्रसङ्गानां हस्तामलकवत् साक्षात्कारं भाविके अपेक्षितं मनुते। युक्तमुक्तवान् कुवलयानन्दव्याख्यायाम् आशाधरभट्टः—भावाय साक्षात्काराय प्रभवतीति भाविकम्। भाविकालङ्काररचनायां कविरीश्वरभावेऽवस्थितो रचयतीति युक्तमुक्तवान् विमर्शिन्यां जयरथः।

रुय्यकेन द्विविध उक्तः संवादः—वस्तुसंवादो हृदयसंवादश्च। साक्ष्यालङ्कारे वस्तुसंवादः स्यात्, न हृदयसंवादः। वक्ष्यमाणजात्यलङ्कारेण स्वभावोक्त्या वा अस्यालङ्कारस्यायमेव विशेषः। जात्यलङ्कारे वस्तुनिरूपणं भवति, न वस्तुसंवादः। प्रत्यक्षायमाणत्वमुभयोः साधारणम्। स्वभावोक्तौ जातौ वा लोकप्रसिद्धस्य लोकानुभूतस्य च वस्तुनः स्फुटत्वम्, अतश्च आधिभौतिकजगतः प्राधान्यम्, एककालिकता च। साक्ष्यालङ्कारे तु

अननुभूतानाम्, अतीतानामनागतानामपि भावानां प्रत्यक्षायमाणता, तेन चास्य त्रैकालिकता।

पाश्चात्त्यैर्यद् बिम्बविधानमित्युच्यते, तस्यातिशयेन जात्या वा व्यतिकरिते अस्मिन् साक्ष्यालङ्कारेऽन्तर्भावः। एतच्च अतिशयालङ्कारविचारे विस्तरेण प्रतिपादयिष्यामः।

भाविकालङ्कारे अतीतानामनागतानां पदार्थानां भावाः प्रत्यक्षवद् बिम्बिता भवन्तीति युक्तमाह श्रीविद्याचक्रवर्ती (अलङ्कार-सर्वस्वनिष्कृष्टार्थकारिका, ११७)।

प्रेमाद्यलङ्कारेषु, आन्दवर्धनाभिनवगुप्तादिप्रोक्ते रसध्वनौ वा तन्मयीभवनं, हृदयसंवादश्च जायते। भाविकालङ्कारे साक्ष्यालङ्कारे वा कविगता अभिप्रायाः सहृदयसंविदि विश्राम्यन्तोऽपि ताटस्थ्येन विलोक्यन्ते इत्यनयोर्विशेषः।

साक्ष्यालङ्कारोऽयं वाक्यगतः प्रकरणगतः प्रबन्धगतश्च सविशेषं भासते। प्रायः सर्वत्र स्मृत्यलङ्कारस्तत्र पिनद्धो भवतीति प्राक् प्रतिपादितमेव। तत्र वाक्यगतो यथा भासस्य स्वप्नवासवदत्ते—

बहुशोऽप्युपदेशेषु यया मामीक्षमाणया।
हस्तेन स्रस्तकोणेन कृतमाकाशवादितम्।।

अत्र नायक उदयनो नायिकायाश्छविं प्रत्यक्षमिव समक्षं पश्यन् तत्कृतस्य आकाशवादितस्य साक्ष्यं प्रस्तौति। प्रकरणगतो यथा क्षमाराव-राजेन्द्रमिश्रादीनां कथासु। प्रबन्धगतस्तु रामायण-महाभारत-रघुवंशादिषु सर्वत्र अनुस्यूतः, साक्ष्यालङ्कारादेव महीयन्त एतादृशाः प्रबन्धाः। भवतश्चात्र श्लोकौ—

साक्ष्यालङ्कृतिना वस्तु कवेः सहृदयस्य च।
मानसे प्रस्फुरद् रूपं प्रत्यक्षं च विभाव्यते।।

विश्रान्तिर्वस्तुसंवादे भवत्यस्यामलङ्कृतौ।
तन्मयीभवनं चैव स्वत एव निवार्यते।।

अथोदात्तम्—

जीवनस्य भव्यताया गरिम्ण उल्लास उदात्तम्।।

२।५।१२।।

आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकलोकानां सकलसमुल्लासभूतस्य जीवनस्य भव्यताया गरिम्णो याऽभिव्यक्तिः सैवोदात्तम्। तेन सामान्यतया प्रतीयमानेषु पदार्थेषु व्यक्तिषु अपि कविरुदात्तत्वं साक्षात्करोति। यथा ममैव—

निर्द्वारं निरलिन्दमेव निभृतं निर्भित्ति निष्प्रस्तरं
गेहान् संरचयन्ति चापि सुदृढानीशा निरीहा अपि।
आकाशस्य छदिं दिशामतिदृढा भित्तीश्च वायोः पटं
कृत्वा कुट्टिममत्र चैव धरणेः केचित् सुखं शेरते।।

जडपदार्थानामपि औदात्त्यं यद्वर्ण्यते तत्तु मानवीयस्य श्रमस्य महिमानं स्थापयितुमेव, तत्राप्युदात्तमलङ्कारः। यथा पुनर्ममैव 'माण्डवम्' इति काव्ये—

द्यामुन्नेतुं स्थित इव बभौ प्रोन्नतस्तस्य कीर्तिं
राजर्षेस्ताममलधवलां मुञ्जराजानुपूर्व्या।
सौधोच्छ्रायैः स्फटिकधवलैर्भ्राजमानः समन्तात्
प्रत्यादेशः परबलततेर्माण्डवीयस्तु दुर्गः।।

वाक्यगतो यथा अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य—

निपीयाम्बु सद्यस्तृषा मेऽपयाता।
सुरापायिनस्ते निपाता निपाताः।।

घनीभूय तारापथेऽस्मि प्ररूढः।
अधोगामिनस्ते प्रपाताः प्रपाताः।।

मम स्थैर्यभावेषु निष्कम्पदीपाः।
तवोत्कम्पनेषु प्रवाताः प्रवाताः।।

यथा ममैव—

सृष्टेरत्र महायज्ञ आत्माध्वर्युः प्रकल्पितः।
काव्यं तत्र हविर्भूतं तेन वै जीवनं हुतम्।।

उदात्तालङ्कारोऽयं प्रकरणे प्रबन्धे च सविशेषं भ्राजते। तत्र चरित्रविशेषगतः प्रकरणविशेषगतो वेति द्वौ विशेषौ। चरित्रविशेषगतो यथा—रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परामित्यादिकथनेषु। यथा वा शूद्रकस्य मृच्छकटिके दर्दुरकस्य गरिमामयचरित्रनिरूपणे—

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया।। (२।१३५)

प्रकरणगतो यथा रघुवंशे दिलीपस्य गोसेवादिप्रसङ्गे। यथा वा वसन्तसेनायाः शर्विलकं प्रत्यनुरक्तां स्वदासीं विज्ञाय दास्यान्मोचयित्वा तत्प्रियाय समर्पणे। प्रबन्धगतमुदात्तं तु सर्वेष्वेव महावाक्यायमानेषु प्रबन्धेषु उल्लसति। तद्यथा वाल्मीकिरामायणे, तत्र वाक्योपन्यास-चरित्र-प्रकरणादिभिराद्यन्तमुदात्तस्य निर्वाहः कृतः।

न चास्य महतीं लक्ष्मीं राज्यनाशोऽपकर्षति।
लोककान्तस्य कान्तत्वाच्छीतरश्मेरिव क्षपा।।
न वनं गन्तुकामस्य त्यजतश्च वसुन्धराम्।
सर्वलोकातिगस्येव लक्ष्यते चित्तविक्रिया।।

इत्यादिभिः कथनैः।

वस्तुतो महात्मनां चरितस्य प्रस्तुतिः स्वत एवोदात्तं साधयति। यदुक्तमुद्भटेन—

उदात्तमृद्धिमद्वस्तु चरितं च महात्मनाम्।
उपलक्षणतां प्राप्तं नेतिवृत्तत्वमागतम्।।
(काव्यालङ्कारसङ्ग्रहे-४।५४)

जीवनचरितेषु महतां महापुरुषाणां वा यच्चरित्रं तदुदात्तस्यैव निदर्शनम्। तच्चारित्र्यनिरूपणे समग्रमपि प्रबन्धं परिव्याप्नोत्युदात्तम्। एतादृशप्रबन्धपरिव्यापिन उदात्तस्य उदाहरणं यथा क्षमादेव्याः

सत्याग्रहगीता। प्राचीनप्रबन्धेषु रघुवंशः किरातार्जुनीयं शिशुपालवधं वा। शिशुपालवधे माघेन उदात्तनायकस्य चरितं शब्दशो यदुक्तम्—

आरम्भन्तेऽल्पमेवाज्ञाः कामं व्यग्रा भवन्ति च।
महारम्भाः कृतधियस्तिष्ठन्ति च निराकुलाः।।

इति, तद् भगवतः श्रीकृष्णस्य उदात्तचरितं चित्रीकुर्वता निदर्शितमेव। प्रत्युदाहरणं यथा हर्षस्य नैषधचरितम्। तत्र नायकः प्रथमाङ्क एव चाञ्चल्योपहतो हंसं जिघृक्षति, विहाय देवदौत्यं न किमपि श्लाघ्यं महनीयं महात्मचरितानुरूपं वा आचरति।

उदात्तालङ्कारोऽयं जात्युपमाद्यलङ्कारसम्भिन्नः समधिकतरं प्रकर्षं प्रापयति कविताम्। तथा हि कालिदासविहिते समाधिस्थस्य शङ्करस्य एतस्मिन् चित्रणे—

पर्यङ्कबन्धस्थिरपूर्वकायमृज्वायतं सन्नमितोभयांसम्।
उत्तानपाणिद्वयसन्निवेशात् प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्ये।।

अवृष्टिसंरम्भमिवाम्बुवाहमपामिवाधारमनुत्तरङ्गम्।
अन्तश्चराणां मरुतां निरोधान्निवातनिष्कम्पमिव प्रदीपम्।।

अत्र माहयोगिनो सहजं स्वाभाविकं यत् स्वरूपं तन्निरूपितं तेन च जातिः। 'प्रफुल्लराजीवमिवाङ्कमध्य' इत्युपमया सा जातिः परिपोषं याति, ततश्च जात्युपमे उभे मिलित्वा उदात्तम् उत्कर्षयतः, उदात्तं च उभे प्रगुणयति। द्वितीये पद्येऽपि मालोपमा एवमेव उदात्तस्य पोषयित्री, उदात्तेन चानुप्राणिता। लोञ्जाइनसप्रतिपादितमुदात्ततत्त्वमस्मिन्नन्तर्भवति, तथैव धीरोदात्तनायकसम्बद्धो धर्म-दान-दया-युद्धेति चतुर्धा विभाजितो वीरो रसोऽपि। भवति चात्र आर्या—

ऋषिरिव कविर्मनीषी प्रकटीकुरुते तपःपूतं स्वकम्।
संविद उल्लासं यत् तेनोदात्तं च काव्यजगत्।।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे द्वितीयेऽधिकरणे आभ्यन्तरालङ्कारनिरूपणं नाम पञ्चमोऽध्यायः।।

●

।। अथ बाह्यालङ्कारनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ।।

बाह्या अलङ्काराश्चतुर्विधाः, साकल्येन ते अष्टादश।।२।६।१।।

बाह्या अलङ्काराश्चतुर्विधाः—सङ्घटनाश्रिताः, विरोधमूलकाः, औपम्यमूलकाः, वृत्तिमूलकाश्च। साकल्येन ते अष्टादशसंख्यकाः सन्ति। तद्यथा—

अन्यथाकरणं छाया जातिश्चातिशयस्तथा।
इमे चत्वार एव स्युराद्याः सङ्घटनाश्रिताः।।
अपह्नुतिर्विरोधश्चासङ्गतिर्विषमं तथा।
द्वन्द्वं च तानवं च स्युर्वर्गे विरोधमूलके।।
उपमा रूपकं चैव चोत्प्रेक्षा दीपकं तथा।
इमे चत्वार एव स्युर्वर्गे चौपम्यमूलके।।
नादानुवृत्तिर्यमकं श्लेषश्चापि लयस्तथा।
एते सन्ति च चत्वारोऽलङ्कारा वृत्तिमूलकाः।।

अन्यथाकरणं छाया स्वभावोऽतिशयश्च इमे चत्वार आद्याः सङ्घटनाश्रिता अलङ्काराः। आद्यत्वमेषां सर्वविधकाव्ये अपेक्षितत्वात्। तेन प्रथममिमे लक्ष्यन्ते। विरोधमूलकाः षट्। औपम्यमूलकास्तथैव वृत्तिमूलकाश्चत्वारः।

अन्यथाकरणम्—

वस्तुनो रूपान्तरप्रतिपत्तिरन्यथाकरणम्।।२।६।२।।

कविरिह यथादृष्टं वस्तु न काव्ये निरूपयति, अपि तु विन्यासविशेषैः कल्पनया नवीनतां तत्र आपाद्य अन्यथात्वं गमयित्वा तत्तद् वस्तु स काव्ये आपादयति। वस्तुतोऽन्यथाकरणं नाम समस्तकलासु अनिवार्यैव प्रक्रिया। तद्यथा कालिदासेन दुष्यन्तस्य शकुन्तलाचित्रनिर्मिति-प्रसङ्गे उक्तम्—

यद्यत् साधु न चित्रे स्यात् क्रियते तत्तदन्यथा।
तथापि तस्या लावण्यं रेखया किञ्चिदन्वितम्।।

अन्यथाकरणपूर्वकमेव लावण्यमन्वीयत इत्यस्ति कवेरभिप्राय:।

अस्मिन् प्रस्तुतस्य अन्यत्वप्रतिपादनपरा अतिशयोक्ति:, आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वनिरूपणपर: परिणामश्चान्तर्भवत:। तेन अन्यथाकरणं द्विविधम्—भौतिकजगति वस्तूनि यथा गोचरीभवन्ति कविना स्वकृतौ तेषां स्वरूपस्य ततो वैशिष्ट्योद्‌घाटनायान्यथात्व-प्रतिपादनम् इति एक: प्रकार:। वस्तुष्वेव रूपान्तरप्रतिपत्ते: परिवर्तनस्य वा चित्रणे द्वितीय: प्रकार:। एष द्वितीय: प्रकार आधुनिककथासाहित्ये चरित्रविकासनिरूपणे विशिष्य विलसति। कथासु पात्राणां चरित्रं परिवर्तते विकसति वा। तत्र सर्वत्र अन्यथाकरणालङ्कार:।

प्रस्तुतस्य अप्रस्तुतायमानत्वम्, अप्रस्तुतस्य वा प्रस्तुतायमानत्वं परिणाम:। आरोप्यमाणस्य प्रकृतोपयोगित्वे परिणाम इति यद् रुय्यक आह, तदग्राह्यम्। वस्तुनोऽन्यथात्वे परिणतौ वा परिणाम:। तन्निरूपणं यदा काव्येऽलम्भावमापादयति तदा अन्यथाकरणं परिणामो वा अलङ्कारो वाच्य:। परिवर्तमुपमेयस्योपमानतया उपमानस्य वा उपमेयतया स्यात्, कस्य परिवर्तनं भवतीत्यकिञ्चित्करम्। तथा हि—

वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सक्तनिषङ्गभास:।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूरा: सुरतप्रदीपा:।।

अत्र हिमगिरिगता औषधय: सुरतप्रदीपेषु परिणमन्त इति कथन एव स्वारस्यम्, तत्र औषध-सुरतप्रतीपयो: उपमेयं किम्, उपमानं च किमिति त्वकिञ्चित्करम्। अस्मिंश्च अन्यथाकरणे मम्मटादिभिर्वर्णिता वादि-धर्मलुप्तोपमा क्वचिदन्तर्भवति। तथा हि—

इयं व्याधायते बाला भ्रूरस्या: कार्मुकायते।
नेत्रे अस्या: शरायेते मनो मे हरिणायते।।

अभूततद्भावे च्विरिति नियमादत्र अव्याधस्य व्याधभावापन्नत्वं कविना प्रत्यपादि।

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिन्यः।
यामिनयन्ति दिनानि सुखदुःखवशीकृते मनसि।।

इति मम्मटेन द्विलुप्तोपमाया उदाहरणं प्रादायि। वस्तुतोऽत्र अन्यथाकरणमेव।

तच्च अन्यथाकरणं द्विविधम्—सुपरिणतिरूपं दुष्परिणतिरूपञ्च। दुष्परिणतिरूपो यथा मम जनतालहर्याम्—

ग्रीष्मेऽङ्गारकरैस्तपन्निह करैर्मित्रोऽप्यमित्रायते
वर्षन् भग्नकुटीरजर्जरवृतौ देवस्तु दैत्यायते।
क्षुत्क्षामस्य विषायते मधुरहो नो माधवस्त्रायते
सामन्तैर्बहुखेदितस्य निखिलं विश्वं विरुद्धायते।।३३।।

इयं च दुष्परिणतिः कविना क्वचिद् बृहत्तरमूल्यानां रक्षायै निरूप्यते। तद्यथा मम अद्यापिलहर्याम्—

सुरम्यसौधसन्ततिः सुसज्जया समन्विता।
निवेश्य कोटिवैभवं कुरीत्यनार्जवार्जितम्।।

नभःसमागमाय या समुच्छ्रिता विजृम्भते।
प्रयाति मृत्तिकालयं च धूलिसाद् भवत्यरम्।।

तच्च परिवर्तनमाधिभौतिकदृशा दुग्धस्य दधिरूपमिव भवति तदा आधिभौतिकमन्यथाकरणम्, कविकल्पनायां भवति तदा आधिदैविकमाध्यात्मिकं वा। तत्र आधिदैविकं कालिदासस्योपरि उदाहृतं पद्यम्—वनेचराणामित्यादि। अन्यथाकरणे वस्तुनि भौतिकदृष्ट्या तात्त्विकं रूपान्तरं परिणामो वा न सर्वत्र अपेक्ष्यते, रूपान्तरमिदं कवेर्मानसिकी सृष्टिः स्यात्, तथापि भौतिकपिण्डात्मकसत्यात् समधिकतरमस्य मूल्यम्। वस्तुन आन्तरिकं रूपं क्वचिदनेनाभासितं भवति। क्वचित् तु मानसिक्याः सृष्टेः पुनर्भौतिकरूपेणावस्थानं सचमत्कारपूर्णं कवयो वर्णयन्ति, अन्यथाकरणस्यान्यथैव रूपमाविष्कुर्वन्ति। तद्यथा मम धरित्रीदर्शनलहर्यां विमानावतरणवर्णने—

पृथ्वीपत्रे मसिरिव यथा रेखया निर्मिता या
सञ्जाता सा सघनवितता वृक्षपङ्क्तिर्वनान्या:।
भूम्या हस्ते चुलुकविधृतं यज्जलं दृश्यते स्म
पश्चाद् दृष्टः सृत इव पटः, सागरस्तद् बभूव।।५।।

भौतिकवस्तूनां मानसिकी प्रतीतिरन्यथा भवति। साऽपि न मिथ्या। तद्यथा भट्टलक्ष्मीधरस्यैव द्वारकावर्णने आपणवीथ्यो रघुवंश-शिशुपालवध कादम्बरी-महाभारतादीनां काव्यागतानि वाक्यानीव जायन्ते—

रसैः स्फुटैरर्थसमैर्वचोभिरर्थैरपूर्वैः सदलङ्क्रियाभिः।
ददर्श तस्यां रघुमाघबाणव्यासायमाना व्यवहारवीथीः।। (८.६०)

यदा प्रस्तुतस्याप्रस्तुतस्य वा विकासो वा ह्रासो वा निरूप्यते तदा अन्यथाकरणं परिणामो वा भवत्यलङ्कारः। समग्रमेव साहित्यं प्रकारान्तरेण परोक्षत्वेन वा परिणामालङ्कारस्य निदर्शनभूतम्। नानाभावोपसम्पन्नं नानावस्थान्तरात्मकं जीवनं सदैव विकासपरम्। यतो हि यथा ममाद्यापि-लहर्याम्—

आहन्यमान इव विघ्नशतोपलैस्तै-
रुच्छिद्यमान इव दुःखकुठारधारैः।
रोहत्यसौ विकसति प्रचितैः स्वशाखै-
रूर्ध्वं प्रयाति खलु जीवनवृक्ष एषः।।

इदमन्यथाकरणं वाक्यगतं प्रकरणगतं प्रबन्धगतं च काव्यसंरचना-दृशा त्रिविधम्। वाक्यगतस्य उदाहरणानि उपरि दत्तान्येव। प्रकरणगतं प्रबन्धगतं च यथा अभिज्ञानशाकुन्तले महाकवेर्भवभूतेर्मालतीमाधवे वा। मालतीमाधवे प्रथमद्वितीयाङ्कयोर्नायकौ किशोराभावनाभिः सम्भृतौ। कामन्दक्याः प्रबोधेन शनैः शनैश्चोभयोर्विकासो विलोक्यते।

न केवलं वस्तुनः परिणामेऽपि तु परिणामाशंसायामपि अलङ्कारोऽयं ग्राह्यः। यथा मम रोटिकालहर्याम्—

पाचितं दुःखवह्नौ व्रजत् पूर्णतां
वेदनाङ्गारकैर्दह्यमानं भृशम्।
जीवनं जायतां नः समेषां सदा
रोटिकातुल्यमेवोल्लसत् सन्ततम्।।

अथ छाया—

जीवनगतसौन्दर्यस्य प्रतिबिम्बीकरणं सङ्ग्रहः तदन्यथाकरणं च च्छाया।।२।६।३।।

जीवनस्य उपरि निरूपितस्य आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकजगतां सकलसमुल्लासभूतस्य प्रतिबिम्बकल्पः सङ्ग्रहस्तदनु अन्यथाकरणमन्यरूपोपपादनं छाया। यथा कुशलश्छायाचित्रग्राहकः छायाचित्रयन्त्रेण न केवलं रमणीयदृश्यानां छविं सङ्गृह्णाति; परन्तु स्वप्रतिभया छविसङ्ग्रहे पुनर्विन्यासमपि विधत्ते। अत एव छायाचित्रयन्त्रेण दृश्यविशेषनिरूपणमपि न भवति अनन्यथाकृतम्, तत्रापि अन्यथाकरणस्य वैशिष्ट्यं तु विजृम्भत एव। क्व कथा पुनः काव्यस्य यत्र कविप्रतिभा यथादृष्टस्य जगतश्छविं निरूपयन्ती तत्र कल्पनायास्तूलिका नवीनवर्णैस्तच्चित्रमुन्मीलयति। यदवोचाम प्रथमाधिकरणस्य प्रथमाध्याये—

साहित्ये जीवनं सर्वं सर्वाङ्गीणं नवं नवम्।
प्रतिबिम्बत्वमायाति समुल्लसति वर्धते।।
अद्भुतः प्रतिबिम्बोऽयं बिम्बमेव विभावयन्।
संस्कुर्वन् जीवनं तस्मिन् समवेतो नवायते।।

अयं च छायालङ्कारः प्राचीनैः क्वचित् संवाद इति निरूपितः। तद्यथा आनन्दवर्धनोऽभ्यधात्—संवादो ह्यन्यसादृश्यम्। स च त्रिधा—प्रतिबिम्बवत्, आलेख्याकारवत् तुल्यदेहिवदिति भेदैः। प्रतिबिम्बकल्पः संवादः प्राणरहितः। आलेख्यवदनुकृतेरपि आनन्दवर्धनस्तुच्छात्मत्वमेव मेने। तुल्यदेहिवदनुकार एव तदनुसारेण स्पृहणीयः। समानरूपयोर्यमलयोर्वा पुरुषयोर्यथाऽऽकृतिसाम्येऽपि भवति भूयान् भेदः प्रकृतौ, तथैव समानेऽपि रूपबन्धे द्वयोः काव्ययोर्विशेषाः स्युः स्वकीयाः। एवमेव

सुकवयः गृह्णन्ति पूर्वकाव्येभ्यः पदावलीम्, भावविशेषं वा परन्तु नैतेन परवर्तिनः कवेर्निकृष्टता न वाऽयमनुकार इति वक्तुं शक्यते।

राजशेखरस्तु अन्ययोनि-निह्नुतयोनि-योनीति त्रिधा विभक्तवान् काव्यार्थम्। तत्रान्ययोनिर्द्विधा—प्रतिबिम्बकल्प आलेख्यप्रख्यश्च। निह्नुतयोनिरपि द्विविधः—तुल्यदेहितुल्यः परपुरप्रवेशसदृशश्च। इत्थं राजशेखरेण आनन्दवर्धननिरूपिते संवादप्रकारत्रये परपुरप्रवेशसदृशस्यार्थस्य चतुर्थो भेदो योजितः। यथाऽन्यस्मिन् नगरे प्रविशन् कश्चन नरस्तस्मिन् नगरे नानादृश्यानि निरूपयति, यथा वा कश्चन योगी स्वकीयं जीवात्मान-मेकस्माद् देहान्निस्सार्य अन्यस्मिन् देहे सङ्क्रामयति, स्वयं चाविकृतस्तिष्ठति, एवमेव महाकविः पूर्ववर्तिकाव्येषु प्रविशति आदत्ते च तेभ्यः सामग्रीम्; परन्तु न तत्प्रभावेण विकृतिमापद्यते। एतदेवादान-मन्यच्छायेति कथितं पूर्णसरस्वतिना मेघदूतस्य विद्युल्लताटीकायाम्।

कस्यचिन्महाकवे रचनां पाठं पाठं न केवलं वयं तस्यैव कृतिं पठामः, अपि तु ता अपि कृतयः पठामो यासां छायास्तदीयायां कृतौ सङ्क्रान्ता इत्यभिप्रैति महाकविरिलियटः। तेन पूर्ववर्तिकाव्यानि पुनराटीकितानि जायन्ते, तेषां व्याख्या नवायते नवीनकविना विहितयाऽन्यच्छायया। एतेन जायते साहित्यपरम्पराया अतिप्राचीनाया सातत्यम्। महाकविः पूर्ववर्तिनामभिव्यक्तीर्नवीनानुसन्धानैरन्यदेव रूपं गमयति। इत्थं छायालङ्कारे आदानमन्यथाकरणं चेति भवति पक्षद्वयम्। एतच्च पक्षद्वयं परस्परेण संसक्तम्, एकस्यैव नाणकस्य पार्श्वयोरिव। यथा उपनिषत्प्रोक्ते परापरे विद्ये युगपद् भवतः, तथैव काव्यरचनाप्रक्रियायामपि आदाने अन्यथाकरणे च कवेः प्रतिभा सततं व्याप्रियते। अतो नेदं शब्दार्थहरणम् उपादानं सङ्ग्रहो वा।

वयं तु ब्रूमः—नेदमादानमन्यथाकरणं वा नवीनकविना पूर्वकाव्येभ्य एव क्रियते, अपि तु जीवनात्। जीवनं च त्रयाणामप्याधिभौतिकाधि-दैविकाध्यात्मिकलोकानां सततसमुल्लासभूतम्। जीवनस्यैव छाया वस्तुतश्छायालङ्कारः। अत एव आनन्दवर्धनराजशेखरयोर्विवेचने तु अस्याश्छायाया अतिविस्तृताया एक एव कोणः साहित्याद् निपतितायाश्छायाया आपतितम्।

भोजराजेन छायालङ्कारः स्वीकृतः; परन्तु तेन अन्यस्य उक्तेः प्रतिबिम्बग्रहण एव छायालङ्कारः सङ्कोचं गमितः लोकोक्तिच्छाया, अर्भकोक्तिच्छाया, उन्मत्तोक्तिच्छाया, पोटोक्तिच्छाया तथा मत्तोक्तिच्छायेति च षड् भेदा अस्य छायालङ्कारस्य निरूपिताः। तदयुक्तम्। कथं केवलमुक्तीनामेवादानं छायात्वेन स्वीक्रियते, न कथावस्तुनः, वर्ण्यविषयाणां वा? अन्यच्च यदि उक्तिविशेषादानमेव छायालङ्कारस्तर्हि कथमयं केवलं षड्भेदात्मकः, महापुरुषोक्तिच्छाया-प्रियोक्तिच्छाया-रिपूक्तिच्छायेत्यादिभेदैरस्य स्यादानन्त्यम्।

वस्तुतः समग्रमेव वाङ्मयं छायैव। नेयं छाया उक्तिवैचित्र्यानुहरण-मात्रपर्यवसायिनी, अपि तु जीवनमर्मानुसन्धानपरा। ते तावदर्थाः कविना स्वत उम्भिता इति मन्यन्ते, तेऽपि वस्तुतश्छायारूपा एव, तेषां प्रतिभापरिस्पन्दनिष्यन्दत्वात्, प्रतिभायाश्च देशकालसमाजाधिगत-संस्कारप्राणत्वात्। कविप्रतिभया देशकालसमाजाधिगतानां संस्काराणां भावानां वा सञ्चय इति छायाया एकं रूपम्, तस्य च सञ्चयस्य प्रतिभयैव अन्यथाकरणमिति द्वितीयम्। उभे अपि एते रूपे परस्परानुषक्ते, काव्ये अनयोरेकतरस्य पृथगसम्भवात्। अनयोरपि चातुर्विध्यम्—वास्तवमूलक-साहित्यमूलकैतिह्यमूलकशास्त्रमूलकत्वात्।

यत्र आधिभौतिकजगति दृश्यमानानां पदार्थानां प्रत्यक्षदृष्टमिव रूपं काव्ये प्रगुणीभवति तत्र वास्तवमूला छाया। इयमपि द्विविधा—इन्द्रिय-गोचरजगदुपजीविता लोकवार्तोपजीविता च। तत्र प्रथमाया उदाहरणानि सन्ति पण्डिताक्षमाराव-राजेन्द्रमिश्र-वनमालिविश्वालादीनां कथाः। अभिराजराजेन्द्रमिश्रस्य शतपर्विकायां लौकिकजगतो वास्तविकता निर्वसनं साक्षात्कृता; परन्तु निर्वहणे ज्येष्ठायास्तनयाया निष्कलुषसेवया कन्यापितुर्हृदयं यथा भवति परिवर्तितम्, तत्र कथाकारस्य प्रतिभा यथार्थस्यान्यथाकरणे प्रगल्भते। यथार्थजगत्यपि न भवन्ति एतादृशानि हृदयपरिवर्तनानि; परन्तु विकृतिमये जगति वास्तविकताया भयावहं रूपमेव सामान्या जना प्रायशोऽवलोकयन्ति, कविस्तु तत्रानुस्यूतान् आश्वस्तिकरान् बिन्दून् सञ्चित्य सङ्गृह्य यद् विन्यासं विधत्ते

तदेवान्यथाकरणम्। इदमन्यथाकरणं वास्तविकताया भूमावेव स्थित्वा कथाकारेण साधु व्यधायि। प्रकटितश्च तत्र रसावेशवैशद्यनिधानभूतोऽलङ्कारः। अत एव कथेयं अन्याश्च काश्चन कथा राजेन्द्रमिश्रस्य वास्तवमूलाया उत्तमान्यच्छायायाः सन्ति निदर्शनानि। यथा वा ममैव जनतालहरीरोटिकालहरीप्रभृतिकाव्यानि। दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

क्लिन्नगोधूमचूर्णस्य पिण्डैः समं
वेल्लिता चक्रपट्टे च विस्तारिता।
ऊष्मणा योजिता वाष्पपूरान्विता
वाष्पपूरं हरन्ती शिशोर्नेत्रजम्।।
क्षेपिता चुल्लके फुल्लिता तत्क्षणं
मोदयन्ती जनानां सदा सा गणम्।
त्रोटिता ग्रासकैर्दीयमाना मुखे
प्लावयत्येव जिह्वामपूर्वै रसैः।।३।।

अत्र रोटिकाया भौतिकं रूपं वास्तवमूलकमेव; परन्तु तदीया या मनोहारिण्यः परिणतयस्तासु अन्यथाकरणरीत्या कविकल्पनासाम्राज्यं निर्मितमपि न जहाति वास्तवमूलकताम्।

लोककथा-लोकगीताभाणकादिमूला रचना द्वितीयवास्तवमूलायाश्छायाया उदाहरणानि सन्ति। यत्र पूर्ववर्तिकाव्येभ्यः पदपदार्थादिसामग्रीमादाय तस्य नवीनं विन्यासं विधाय अभिनवकवितासाम्राज्यं रचयन्ति सुकवयस्तत्र साहित्यमूला छाया। प्राचीनं वृत्तम् इतिहासं पुराकथां वा समादाय कविः स्वप्रतिभया यत्र अन्यदेव रूपं रचयति तत्र ऐतिह्यमूला छाया। शास्त्रमूलायां शास्त्रानुशीलनाधिगता अर्था कविप्रतिभया अन्यथात्वं गमिताः काव्यमुद्योतयन्ति।

चतुर्विधा अपीमाश्छायाः कविगतसंविदुन्मीलितैः लौकिकस्त्रोतोगृहीतैर्वा स्वस्वरूपैः सङ्करसंसृष्टिभ्यां काव्ये अनन्तरूपैरुद्योतन्ते। तत्रापि यत्र प्रतिभासंरम्भगोचरस्य रूपस्य प्राधान्ये सति उत्तमा, प्रतिभासंरम्भगोचरस्य प्रकृतस्त्रोतोविद्यमानस्य च रूपस्य समप्राधान्ये

मध्यमा, प्रकृतस्रोतोविद्यमानस्य रूपस्य च प्राधान्ये अवरेति त्रैविध्यम्। इत्थं चतुर्विंशतिविधोऽयं छायालङ्कारः। अवरायां प्रतिबिम्बवत्, मध्यमायामालेख्याकारवत्, उत्तमायां च तुल्यदेहितुल्या परपुरप्रवेशतुल्या वा छाया आभासत इति विवेकः। उत्तमा च छाया महाकवेः परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषं व्यनक्ति। इयं च कवेर्मौलिकताया अपि निकषभूता। कवेः प्रतिभा रचनोन्मेषकाले आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकानां जगतां तानि तानि वैशिष्ट्यानि आत्मसात्कुर्वती अनवरतं रचयति तानि अन्यथा अन्यथा रूपैः, यावाँश्च प्रसरति प्रतिभा एतादृश आत्मसात्करणे, यावती च गहनाऽन्यथाकरणप्रक्रिया तावदेव उत्तमोत्तमं कवित्वम्। तद्यथा महाकवेस्तुलसीदासस्य रामचरितमानसम्। तत्र नानापुराण-निगमागमसम्मता अर्थाः कविप्रतिभयाऽऽत्मसात्कृता अतिमहति काव्यजगति नूतनालोकसमन्विताः परिस्फुरन्ति। तथैव महामहोपाध्याय-गङ्गाधरशास्त्रिणोऽलिविलासिसंलापकाव्यम्। तत्रापि नानाशास्त्राणां निष्यन्दो नवायते।

प्रणवोपाह्वस्य इच्छारामद्विवेदिनो 'निरीक्षणम्' नाम कथा अद्यतन्याः संस्कृतपाठशालाया वास्तविकतां सविडम्बनं प्रस्तौति। अत्र विडम्बनमययथार्थस्थितीनां कथाकारस्य प्रतिभाविहितानामन्यथाकरणानां च समं चमत्कारः समुल्लसतीति वास्तवमूलाया मध्यमाया अन्यच्छायाया उदाहरणभूतेयं कथा। अथ च विडम्बनरीत्यैव प्राचीनगद्यबन्धा-नामद्यतनपरिस्थितिविशेषचित्रणे अपूर्वः कश्चन विनियोगो व्यधायि कथाकर्त्रेह, तेन साहित्यमूलान्यच्छायाऽप्यत्र संसृष्टा। केवलं नामोल्लेखैः सूचीनिबन्धनैर्वा वास्तविकतां निदर्शयन्ति अस्फुटप्रातिभोन्मेषानि काव्यानि वास्तवमूलाया अवरायाश्छायाया उदाहरणानि।

साहित्यमूला छाया साम्प्रतिककाले विरचितेषु मेघदूतोपजीवितेषु परःशतं सन्देशकाव्येषु समुल्लसति। एतेषु वर्तमानकालिकी भौगोलिकी ऐतिहासिकी सामाजिकी वा यत्र यत्र स्थितिर्भूतार्थकथनैर्निरूपिता तत्र तत्र वास्तवमूला छाया सङ्क्रान्ता। सहस्रबुद्धेर्विरचितं काकदूतम्, कृष्णमूर्तिकृतं श्वानदूतम्, रामावतारशर्मणो वा मुद्गरदूतमित्यादीनि सन्ति

भूयांसि निदर्शनानि। धरित्रीदर्शनलहर्यां विमानादवतरता पान्थेन धरित्र्या रूपं यथा उम्भितं तत्र क्वचिद् वैदिकी क्वचिच्च कालिदासीया वा पदावली आनीतापि नावीन्यं न पुष्णाति। तथापि तत्र प्रायोऽवरैव साहित्यमूला छाया। तद्यथा—

आविर्भूते शशिनि तमसा शर्वरीव व्यपेता
नैशस्यार्चिर्हुतभुज इवापेतधूमाग्रपुञ्जा।
दूराद् दृष्टा निकटनिकटं भूतधात्रीसमेता
धेनुः प्राप्ता व्रजमिव यथा वत्समाकारयन्ती।।

अत्र विमानावतरणसमये साक्षात्कृताया धरित्र्या वर्णनाय कालिदास-कृतात् शनैः शनैर्मोहात् संज्ञां प्राप्नुवन्त्या उर्वश्या वर्णनात् पदावली गृहीता प्रायशो यथावदारोपिता। तेन आधुनिककवेः प्रतिभायाश्चमत्कारः स्वल्प एव, यश्चमत्कारः स कालिदासीयप्रतिभाया इह संवलनस्यैव। उत्तरार्धे चात्र योपमा उपात्ता साऽपि पुरातनसाहित्यादेव गृहीता। पुरातनसाहित्यात् पदावल्याः कल्पनाया अलङ्कारस्य वा आदानात् तद्विन्यासाच्चेह साहित्यमूला छाया, तत्रापि यः कश्चन चमत्कारस्स पूर्ववर्तिकाव्यस्यैव। अत एवात्र साहित्यमूलायाश्छायाया अवरत्वम्।

यत्र तु नानादिक्कालानां विस्तीर्ण आयामश्छायासंवलनैराभासेत तत्र महावाक्यायमानत्वे सति उत्तमा साहित्यमूला छाया। बच्चूलालावस्थिनो नेतृसंस्तव इति काव्ये—

दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले विश्रम्य पाटच्चरा-
श्चीराणि प्रसभं हरन्ति वनितावर्गस्य दुःशासनाः।।

अत्र 'दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले' इति पदं पण्डितराजस्य सुभाषिताद् गृहीतम्; परन्तु तत्प्रयोगोऽद्यतनदिक्कालं तदानीन्तनं च दिक्कालं युगपदुन्मेषयन् नानादिक्कालसमवायं विदधाति। एतेन पण्डितराजोऽपि दिल्लीवल्लभपाणिपल्लवतले वयो यापितवान्, अद्यतना अपि यापयन्ति वयः; परन्तु महदन्तरमुभयोरिति प्राचीननवीन-काव्यगतदिक्कालविशेषोऽपि भावकबुद्धौ झटित्यवभासते।

एवमेव समग्रेऽपि प्रबन्धे भवितुमर्हति साहित्यमूला छाया। तद्यथा रामायणोपजीविते रघुवंशे उत्तमा छाया। ऐतिह्यमूलायाश्छायाया अन्यानि उदाहरणानि सन्ति—श्रीश्वरविद्यालङ्कारस्य दिल्लीमहोत्सवमहाकाव्यम्, लक्ष्मणसूरिणो वा दिल्लीसाम्राज्यनाटकम्, क्षमारावपण्डितायाः सत्याग्रहगीतादिकाव्यानि, मम वा सत्यानन्दगीता।

शास्त्रमूला अन्यच्छाया यथा मम धरित्रीदर्शनलहर्यां विमानादवलोकितायाः धरित्र्या बिम्बस्योद्भासनम्—

दूरे संस्था निकटमिह सा भासते भास्वतीव
स्वेष्टस्येव च्छविरुपनता साक्षिभास्यस्वरूपा।।

अत्र साक्षिभास्यस्वरूपं यन्निरूपितं तत्तु आगमादिभ्य ऊह्यम्।

सोऽयं छायालङ्कारः कवेरशक्तिं शक्तिमुभयमपि प्रकटीकुरुते। प्रतिभया प्रयुज्यमानः शक्तिम्, प्रतिभादरिद्रैः प्रयुज्यमानो दुष्परिणतिं धत्ते अनुवाद एव वा पर्यवस्यति। तत्रापि सौन्दर्यं क्वचिन्मूलस्य भासते। यथा मम धरित्रीदर्शनलहर्याम्—

यस्यां पूर्वे प्रथितयशसश्चक्रिरे विक्रमांस्ता-
नर्वाचीना विदधति कलाकौशलं ज्ञानसत्रम्।
सा नः क्षेमं वितरतु धराऽऽराधिता रत्नगर्भा
माता भूमिर्विनततनयः सोऽस्मि चास्या धरित्र्याः।।

अत्र माता भूमिः पुत्रोऽहं पृथिव्या इति अथर्ववेदगतभूमिसूक्तस्य मन्त्र उपात्तः।

ननु छायालङ्कारे वस्तुनः स्वरूपं पूर्ववर्तिकाव्यवर्णितं साक्षाद् दृष्टं वा परिवर्त्य प्रकटीक्रियते, तेन अन्यथाकरण एवास्य अन्तर्भाव इति न। अन्यथाकरणे छाया, छायायां चान्यथाकरणं सदैव भवति। उभयोर्नान्तरीयकत्वम्। परन्तु अन्यथाकरणालङ्कृतौ वस्तुस्वरूपे कविकल्पनया आपाद्यमाना विकृतिः (विशिष्टा कृतिः) साक्षादिव भासते। छायालङ्कारे तु अनुकृतिः स्पष्टमुन्मिषति। न चेह अनुकृतिः सदृशकरण-मनुगामित्वं वा। अनुकृतिस्तावत् समस्तानां काव्यप्रकाराणां कलानां वा

मूलो धर्मः। काव्ये नाट्ये वा चेदमनुकीर्तनमिति व्यपदिश्यते। मुनिनाऽप्युक्तम्—त्रैलोक्यस्यास्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनमिति। एतच्च काव्यलक्षणविमर्शे प्रतिपादितमेव प्रथमाधिकरणप्रथमाध्याये।

तद्यथोक्तमैतरेयमहीदासेन—शिल्पानि वै शंसन्ति देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते हस्तीकं वासो हिरण्यमश्वतरी रथः शिल्पम्। शिल्पं ह्यस्मिन्नधिगम्यते य एवं वेद देवशिल्पानीति (ऐ.ब्रा. ६।५।१)। भवतश्चात्र आर्ये—

छायालङ्कारेऽस्मिन् मूलं तत्त्वं कलासर्जनायाः।
अनुकृतिरिति यत् प्रोक्तं समुल्लसति तद् विशिष्य चारु।।

अन्तर्हितमपि नियतं भवति तथात्रान्यथाकरणं चैव।
छायायां सम्भिन्नाश्छाया जीवनगता नाना।।

अथ जातिः—

यथादृष्टस्य चित्रोपमनिरूपणं जातिः।।२।६।४।।

स्वभावोक्तिरस्या एव नामान्तरम्। वस्तुनो यथादृष्टं रूपं वास्तवमूलायां छायायामपि छायालङ्कारेऽपि वा निरूप्यते; परन्तु तत्र न तथा मूर्तीकरणं चित्रोपमत्वं यथा जातौ।

जातौ वस्तुस्वरूपं साक्षादिव नयनयोरग्रतः परिस्फुरति। तेन इयं सदैव भवति साक्ष्यालङ्कारग्रथिता। यत्र वस्तुस्वरूपनिरूपणमात्रं तत्र जातिः, यत्र वस्तुसंवादस्तत्र साक्ष्यमिति उभयोर्विवेकः। किन्तु उभयोः सहवर्तित्त्वमपि। एतेन सहवर्तित्वेन बिम्बविधानमिति पाश्चात्त्यैर्निरूपितं तत्त्वं काव्ये समुल्लसति। जातौ यथा बिम्बग्रहणस्य नान्तरीयकत्वम्, तथैव बिम्बविधानेऽपि जातिरपेक्ष्यते। नाट्यशास्त्रे तावदियं जातिर्लोकधर्मीति व्यपदिष्टा। अनया समस्तो भौतिकः संसारः काव्ये नाट्ये वा विभावायते। तद्यथाऽऽहाभिनवगुप्तः—'काव्ये च लोकनाट्यधर्मिस्थानीयेन स्वभावोक्तिवक्रोक्तिप्रकारद्वयेन अलौकिकप्रसन्नमधुरोजस्विशब्दसामर्थ्यसमर्प्यमाणविभावादियोगादियमेव वार्ता' (ध्वन्यालोकलोचने-२।४)। अत्र भामह आह—

स्वभावोक्तिरलङ्कार इति केचित् प्रचक्षते।
अर्थस्य तदवस्थत्वं स्वभावोऽभिहितो यथा।।

आक्रोशयन्नाह्वयन्नन्यानाधावन् मण्डले रुदन्।
गां वारयति दण्डेन डिम्भः सस्यावतारणीः।।

(काव्यालङ्कारे—२।९३-९४)

रुद्रटप्रोक्तो वास्तवालङ्कारवर्गः समस्तोऽस्यां विश्रान्तः। वास्तवालङ्कारस्य रुद्रटकृतं लक्षणं यथा—

वास्तवमिति तज्ज्ञेयं क्रियते वस्तुस्वरूपकथनं यत्।
पुष्टार्थमविपरीतं निरुपममनतिशयमश्लेषम्।।

उपमादिविहीनम् अतिशयरहितं श्लेषेणापि तथा चाश्लिष्टं वस्तुनो विशदं कथनं वास्तवालङ्कारः। रुद्रटप्रतिपादिते वास्तवालङ्कारस्य भेदेषु तेन गणिताः सहोक्ति-समुच्चय-जाति-यथासंख्य-भाव-पर्याय-विषम-अनुमान-दीपक-परिकर-परिवृत्ति-परिसंख्या-हेतु-कारणमाला-व्यतिरेका-न्योत्तर-सार-सूक्ष्म-लेश-अवसर-मीलितैकावलीति त्रयोविंशतिरलङ्काराः परिगणिताः। सेयं जातिर्वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगतत्वेन त्रिविधा। सुभाषितसाहित्यं नीतिश्लोका वा यदा भूतार्थकथनं प्रस्तुन्वन्ति तदा जातेरुदाहरणं भवन्ति।

वाक्यगता यथा लङ्कदत्तस्य—

सक्तून् शोचति सम्प्लुतान् प्रतिकरोत्याक्रन्दतो बालकान्
प्रत्युत्सिञ्चति कर्परेण सलिलं शय्यातृणं रक्षति।
दत्वा मूर्धनि शीर्णशूर्पशकलं जीर्णे गृहे व्याकुला
किं तद्यन्न करोति दुःस्थगृहिणी देवे भृशं वर्षति।।

प्रकरणगता जातिर्यथा नैषधीयचरिते दमयन्तीविवाहप्रसङ्गे वैवाहिकलोकाचाराणां निरूपणे। ननु तत्र लोकच्छाया कथं न मन्तव्येति न, यत्र वस्तुवृत्तस्य चित्रात्मकं निरूपणं प्राधान्यं भजते तत्र न च्छायाऽपि तु जातिरेव। प्रबन्धगता जातिर्यथा हिन्दीभाषायां प्रेमचन्दस्य गोदानाद्यु-पन्यासेषु, हरिदाससिद्धान्तवागीशस्य सरलेत्युपन्यासे वा।

अर्वाक्तनैरयमेव कथ्यते यथार्थवाद इति। अस्मिन् अग्रे प्रतिपाद्यमानोऽतिशयः सर्वथा न भवतीति न। तद्यथा माघस्य—

प्रहरकमपनीय स्वं निदिद्रासतोच्चैः
प्रतिपदमुपहूतः केनचिज्जाग्रहीति।
मुहुरविशदवर्णां निद्रया शून्यशून्यां
दददपि गिरमन्तर्बुध्यते नो मनुष्यः।।

अत्र प्रबोध्यमानोऽपि निद्रां न जहातीति मनाक् अस्फुटितोऽतिशय आभासते, तथापि चमत्कारस्तु स्वभावोक्तेरेव।

वस्तुतोऽतिशयश्च जातिश्च एकस्यैव नाणकस्य पक्षद्वयम्। जात्यामतिशयः पृष्ठवर्ती, अतिशये च जातिः पृष्ठवर्तिनी।

इयं जातिः स्वभावोक्तिर्वा तेषां तेषामलङ्काराणां संसर्गेण समधिकतरां चारुतां पुष्णाति। विशेषत इह प्रेमा, उदात्तं जिजीविषा चावश्यं स्युरन्यथेयं जात्याभासे परिणता स्यात्। तथा हि—

जलाघाताट्टहासोदग्रां फेननिर्मलहासिनीम्।
क्वचिद्वेणीकृतजलां क्वचिदावर्तशोभिताम्।।
क्वचित् स्तिमितगम्भीरां क्वचिद् भैरवनिःस्वनाम्।।

इति वाल्मीकिरामायणे भागीरथीवर्णने। अत्र भागीरथ्याः सौन्दर्यसमाशंसायां तां प्रति आदरभावना निहिता वर्तते, तेन गूढः प्रेमालङ्कारः, तस्याः पावनताया अनुभव उदात्तं भावयति, तस्या अजस्रता च जिजीविषाम्। क्वचिदियं जातिर्विषादनालङ्कारसंविद्धा भासते। तत्रापि जिजीविषा अन्तरनुस्यूता स्यात्, यद्वा प्रकरणवशाद् विषादनं तत्र व्याप्तम्, न विषादोपहतत्वे कवेः स्वारस्यम्। तथा हि—

अद्याशनं शिशुजनस्य बलेन जातं
श्वो वा कथं नु भवितेति विचिन्तयन्ती।
इत्यश्रुपातमलिनीकृतगण्डदेशा
नेच्छेद् दरिद्रगृहिणी रजनीविरामम्।।

स्वभावो नाम भूतार्थकथनम्। सत्यस्य उन्मीलनमिति यावत्। अतः समेषां सुभाषितानां प्राणाधारभूता जातिरेव। जातिभाजः सुकवेः कल्पनायामलङ्कारान्तराणि अहमहमिकया परापतन्ति।

यदुक्तं महाकविना बाणेन—

नवोऽर्थो जातिरग्राम्या श्लेषोऽक्लिष्टः स्फुटो रसः।
विकटाक्षरबन्धश्च कृत्स्नमेकत्र दुर्लभम्।। (हर्षचरिते-१।८)

यथादृष्टस्य विवरणमात्रं तथ्यानां सङ्कलनमात्रं न जातिः, अपि तु जात्याभासो वार्तामात्रं वा तत्। जात्याभासं परिकल्पयन्तो बुक्कन्तः कुक्कुरा इव भवन्ति, यथोक्तं बाणेनैव—

सन्ति श्वान इवासंख्या जातिभाजो गृहे गृहे।
उत्पादका न बहवः कवयः शरभा इव।।

यस्य जातिर्न सिद्धा, स जात्या बहिष्कृत इव कथं प्रवेशमाप्नुयात् काव्यसंसारे? दण्डी तु जातिमेव आद्यामलङ्कृतिं मनुते (काव्यादर्शे-२।८)। शास्त्रेषु भूतार्थकथनस्य प्राधान्यात् जातेरेव तत्र साम्राज्यम्। काव्येऽपीयमाधारभूता। अतश्च तेनैवोक्तम्—

शास्त्रेष्वस्यैव साम्राज्यं काव्येऽप्येतदपीप्सितम्।।

(तत्रैव-२।१३)

जातौ भूतार्थकथनं यथार्थदृष्टिश्च सङ्गच्छेतेतराम्। यत्र जातेरलङ्कारस्य प्राधान्यं तत्र आधुनिकसाहित्यदृशा यथार्थवादश्चरितार्थतां याति। अस्य च जातिकाव्यस्य यथार्थवादिसाहित्यस्य रचना न सर्वथा सहजा, इदं तावत् क्षुरस्य धारायां गमनमिव। कल्पनायां विहगान् स्वैरमुत्पातयन्ति कवयः, त एव यथार्थस्य कठोरकर्कशधरित्र्यां गमने स्खलन्तो दरीदृश्यन्ते। कल्पनाया उद्गारे तु कीर इव अन्यकविप्रोक्तं वस्तु पुनर्निष्पिष्य वक्तुं शक्यते, न तथा जातिकाव्ये। दृश्यन्ते चाद्यापि वसन्ते भ्रमरान् घटयन्तः मलयानिलं वाहयन्तः पाटलादीनि पुष्पाणि विकासयन्तः कवयः। इदं परकीयस्योद्वमनम्। जातौ तु स्वस्यैव बोधः, स्वस्यैवानुभूतिः स्वस्य च पर्यवेक्षणमपेक्ष्यते।

सुभाषितेषु जीवनस्य सत्यं उद्घाटयति कविरतस्तत्र स्वभावोक्तेर्जातेर्वा चमत्कारो महीयते, अन्ये चालङ्कारा अपि कामं तस्मिन् सञ्चरन्ति। तद्यथा भासस्य—

दुःखं त्यक्तुं बद्धमूलोऽनुरागः
स्मृत्वा स्मृत्वा याति दुःखं नवत्वम्।
यात्रा त्वेषा यद् विमुच्येह वाष्पं
प्राप्तानृण्या याति बुद्धिः प्रसादम्।।

अथवा—

कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति।
एवं लोकस्तुल्यधर्मो वनानां
काले काले छिद्यते रुह्यते च।।

भवन्ति चात्र श्लोकाः—

विरच्य चतुरः पञ्च श्लोकाञ्जातिसम्भवान्।
विरमन्तीह कवयोऽलङ्काराभासमोहिताः।।
रक्षन्तः प्रेम चोदात्तमक्षतं च जिजीविषाम्।
प्रबन्धे एनामाद्यन्तं निर्वोढुं विरलाः क्षमाः।।
उपन्यासे कथायां च साहित्ये समकालिके।
यथार्थवादसङ्गत्या जातिरेव महीयते।।

अतिशयो विशेषनिरूपणजनिता असाधारणता।।२।६।५।।

काव्यगतो यो धर्मः पदावाप-पदार्थग्रहण-वाक्यविन्यासार्थ-व्यक्तिवस्तुयोजनादिदृशा इतरलौकिकपदार्थेभ्योऽस्य विशेषं स्थापयति स अतिशयः। काव्ये स वस्तुरूपयोर्विशिष्टविन्यासाद् वस्तूनां विशेषधर्मनिरूपणाच्च जन्यते।

लोके यत् किमपि दृश्यते, तस्य सामान्यं विशेषश्चेति द्विविधं रूपम्। सामान्यं तु प्रायो विज्ञायते, विशेषं कविरेव पश्यति निरूपयति

च। विशेषस्य निरूपण एव अतिशय आभासते। अतिशयस्योन्मीलनाय लक्षणा व्यञ्जना वा वृत्तिरतितरामुपयुज्येते।

उच्यते वस्तुनस्तावद् द्वैविध्यमिह विद्यते।
विशिष्टमस्य यद्रूपं तत् प्रत्यक्षस्य गोचरम्।।
स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभावताम्।।

(व्यक्तिविवेके-२।१६)

काव्यमतिशयेन अतिशयाधानेन वा नवायते, पूर्णायते च। कविराधिभौतिकजगति विद्यमानेषु पदार्थेषु अतिशयमाविष्करोति। अयमतिशयो वस्तुन आधिभौतिकस्वरूपे क्वचिदनवभासमानस्तस्य आधिदैविके आध्यात्मिके वा रूपे प्रतिष्ठितो भाति। अतिशयस्तत्तद्वस्तुनोऽतिशयमय्यः सम्भावना आविष्करोति। तेन वस्तुनोऽज्ञाता पक्षा उद्घाट्यन्ते। बाणेन हर्षचरिते यादृशो हर्षश्चित्रितो न स ऐतिहासिकदृशा तथाभूतः। कविना अतिशयाधानेन पदार्था यन्नवं रूपं प्राप्नुवन्ति तेन संसारो नवायते, परिवर्तते। कापुरुषा अपि काव्यं पाठं पाठं भवन्ति शूराः। निरक्षरा भवन्ति साक्षराः, क्षुद्रा संस्काररहिताश्च जायन्ते सुसंस्कृताः। अत एव च लोकयात्रा कविवचनायत्तेति यायावरीय आह। कुन्तकश्च कथयति—'न वर्ण्यमानस्वरूपाः पदार्थाः कविभिरभूता (अविद्यमानाः) सन्तः क्रियन्ते। केवलं सत्तामात्रेण परिस्फुरतां चैषां तथाविधः कोऽप्यतिशयः पुनराधीयते येन कापि सहृदयहृदयहारिणी रमणीयताधिरोप्यते। तदेवं सत्तामात्रेण परिस्फुरतः पदार्थस्य कोऽप्यलौकिकशोभातिशयविधायी विच्छित्तिविशेषोऽभिधीयते ' येन नूतनच्छायामनोहारिणा वास्तवस्थितितिरोधानप्रवणेन निजावभासोद्भासिततत्स्वरूपेण तत्कालोल्लिखित इव वर्णनीयपदार्थपरिस्पन्दमहिमा प्रतिभासते, येन विधातृव्यपदेशपात्रतां प्रतिपद्यन्ते कवयः'। इति (व.जी. ३।२ वृत्तौ)।

अतिशयोऽयमलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुरलङ्कारान्तरसंसर्ग एव शोभते।

यत्र सामान्यः पक्षः पृष्ठभूमौ तिष्ठति, विशेषश्च सम्मुखमायाति तत्रातिशयः। अतिशयोऽयं काव्ये जीवातुभूतः। तद्यथा प्राचीना अप्याहुः—सर्वेष्वलङ्कारेष्वतिशयोक्तिरेव प्राणत्वेनावतिष्ठत इति। पद-पदार्थ-वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगतत्वेनास्य पञ्चविधत्वम्। तत्र पदगतो यथा—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्।।

अत्र सुवर्णपुष्पा पृथिवी इति विशेषणं पृथिव्या अतिशयं प्रकटीकुरुते, चिन्वन्ति इति पुरुषाणाम्। वाक्यगतो यथा—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपभुञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः।।

अत्र राजसेवा-विषभक्षण-स्त्रीरमणानामुपमेयोपमानभावो यद्यपि व्यक्तस्तथापि कवेः स्वारस्यं मानवानां यत् कौशलं तस्य प्रकटीकरण एव विद्यते। अतश्च ध्वन्यमानाप्युपमा अतिशयमेव पोषयति। वाक्यगतोऽतिशयो व्यञ्जनया कामपि काष्ठामधिरोहति। यथा कालिदासस्य तपोनिरताया भगवत्याः पार्वत्या वर्णने—

स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः
पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे
चिरेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः।।

अत्र प्रथमोदबिन्दूनां गतिनिरूपणे व्यञ्जनागर्भोऽतिशयः प्रतिफलति।

प्रकरणगतोऽतिशयो यथा शाकुन्तले पञ्चमाङ्के शकुन्तलाया तेजस्विरूपनिरूपणे—अनार्य अत्तनो हिअअआनुमाणेन इति कथने। यथा वा उत्तररामचरिते तृतीयाङ्के सीतायाश्चरित्राङ्कने। प्रबन्धगतोऽतिशयो यथा—महिषशतके महिषस्यैव उज्ज्वलोदारमूर्तिनिरूपणे समग्रस्यापि काव्यस्य पर्यवसितिः।

प्रबन्धगतो यथा शाकुन्तल एव। शाकुन्तलेऽतिशयमाविष्कुर्वन् आधिदैविकमप्यतिक्रम्य आध्यात्मिकधरातलमारोहत्येव कालिदासः। प्रस्तावनायामेव भ्रमरा शिरीषकुसुमानि ईषदीषच्चुम्बन्तश्चित्रिताः। चुम्बनं तु सामान्यम्, ईषच्चुम्बने कोऽप्यतिशयः। प्रमदाः शिरीषपुष्पाणि चिन्वन्ति इति सामान्या घटना; परन्तु दयमानास्ता अवतंसयन्ति तानीति विशेषः। दयमानाभिः प्रमदाभिः शिरीषकुसुमावतंसे मनुष्यगतं कारुण्य-माध्यात्मिकमेव। तदनन्तरम् आर्षदृष्टेः आर्षतेजसः आर्षकरुणायाश्च साम्राज्यमिह बोभूयते अनुभूयते च। अत एव अतिशयालङ्कारः कविना सविशेषं प्रायोजि।

प्रथमाङ्के हरिणस्य प्राणान् पणीकृत्य धावनमतिशययुक्तम्, अश्वानां चानुधावनमप्यतिशयान्वितमेव। तथा—

आत्मोद्धतैरपि रजोभिरलङ्घनीया
धावन्त्यमी मृगजवाक्षमयेव रथ्याः।। (१।८)

रथस्य द्रुतं गमनेन यत् सूक्ष्मं तत् सहसा विपुलीभवति, यदर्धे विच्छिन्नं तत् कृतसन्धानमिव जायते। यत् प्रकृत्यैव वक्रं तत् समरेखं भाति। सर्वोऽयं यात्राया अतिशयमयो विशेषः।

बाणपातवर्तिनः कृष्णशारस्यान्तरे तपस्विन उपस्थिता इति तपस्विनां विशेषः। ते कृष्णशारस्य प्राणानां रक्षायै स्वीयान् प्राणान् जुहूषन्ति। सर्वमपि आश्रमस्य जीवनं यत्र 'विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगास्तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः' (१।१४) यत्र 'वनलताभिर्गुणैरुद्यानलता दूरीकृताः' यत्र च अनलङ्कृता तन्वी वल्कलेनापि मनोज्ञा भाति नागरजीवनाभ्यस्तस्य राज्ञः कृते कमपि अतिशयमेव पुष्णाति। कविदृशा तु अयमतिशयः सर्वङ्कष उद्घाट्यते यदा दुष्यन्तसैनिकैरुपरुन्ध्यमाने तपोवने उत्कटमाह्वानं कश्चित् तपस्वी कुरुते नेपथ्यात्—'भो भोस्तपस्विनः! सन्नद्धास्तपोवनसत्त्वरक्षायै भवत। समागतः किल मृगयाविहारी राजा दुष्यन्त' इति।

शकुन्तला नाधिभौतिकजगति जाता प्रतीयते, यतो हि मानुषीसु कथं वा स्यादस्य रूपस्य सम्भवः? (१।२३)। एतादृशीं तां ललनाललामभूतां

तापसकन्यां दृष्ट्वा राजा स्वधनुः मृगेषु नमयितुमशक्तो जातः। राज्ञि इदं परिवर्तनं रूपके अतिशयमेव प्रगुणयति। सेनापतिस्तदनु च ब्रह्मचारिण एतं राजानं पश्यन्ति। तेषां दर्शने वर्तते कश्चिद् विशेषः। सेनापतेर्दृष्टौ राजा गिरिचर इव नागः प्राणसारं गात्रं बिभर्ति। ब्रह्मचारी तं मुनिं मनुते 'पुण्यः शब्दो मुनिरिति मुहुः केवलं राजपूर्वः' (१।१२)। एवमेव राज्ञो दृष्टौ तपोवने गूढं दाहात्मकं तेजो वरीवर्त्यते।

शकुन्तला अपरैव स्त्रीरत्नसृष्टिः। तस्याः कृते अनाघ्रातं पुष्पमित्यादिना (२।११) चत्वारि उपमानानि उपस्थापितानि। तानि चोपमानानि पुष्प-किसलय-रत्न-मधूनि क्रमशः गन्ध-स्पर्श-रूप-रस-तन्मात्रसम्बद्धानि इन्द्रियसन्तर्पकत्वं प्रकटयन्ति नायिकायाः। किन्तु अखण्डं पुण्यानां फलमिव च तद्रूपमनघमिति कथनेन अन्यैव कवेः दृष्टिरिह प्रतिफलति। अन्यत्राप्युपमया कालिदासो दुष्यन्तमुखेन नायिकाया पावनतां प्रकटीकुरुते—

सुरयुवतिसम्भवं किल मुनेरपत्यं तदुज्झिताधिगतम्।
अर्कस्योपरि शिथिलं च्युतमिव नवमालिकाकुसुमम्।।

चतुर्थाङ्के सैव शकुन्तला अग्निगर्भा शमीव प्रकटीभवति। तस्याः प्रस्थानकाले अरण्यौकसः कण्वस्य स्नेहाद् वैक्लव्यमसाधारणम्, शकुन्तलताया पशुपक्षिषु स्नेहोऽपि तथा। पञ्चमाङ्के शार्ङ्गरवो हस्तिनापुरस्य राजप्रासादं हुतवहपरीतं गृहमिव पश्यति, शारद्वतश्च तत्रत्यं सुखसङ्गिनं जनमभ्यक्तमिव स्नातः, शुचिरशुचिरिव प्रबुद्ध इव सुप्तं जानाति। दुष्यन्त इह तपोधनानां पाण्डुपत्राणां मध्ये किसलयाकृतिं शकुन्तलां पश्यति। सैव शकुन्तला अनन्यसामान्यं तेजस्विरूपं प्रकटयति—अनार्य आत्मनो हृदयानुमानेन पश्यसि, क इदानीमन्यो धर्मकञ्चुक-प्रवेशिनस्तृणच्छन्नकूपोपमस्य तवानुकृतिं प्रतिपत्स्यत इति कथयन्ती। सप्तमाङ्के दुष्यन्तस्य स्वर्गाद् भूलोकावतरणं यथा अतिशयान्वितं तथैव बालकेन भरतेन कृतम् अर्धपीतस्तनस्य सिंहशिशोर्बलात् मातुरङ्कात् कर्षणम्। अत एवाह दुष्यन्तः—

महतस्तेजसो बीजं बालोऽयं प्रतिभाति मे।
स्फुल्लिङ्गावस्थया वह्निरेधोऽपेक्ष इव स्थितः।। (७।१५)

अत्रोपमातिशयालङ्कारेणैव प्रगुणिताऽऽस्ते। दक्षमरीचिसम्भवस्य दम्पतियुगलस्य दर्शनमपि तथैवातिशयं प्रगुणीकुरुते नाटके। अन्ततः शाकुन्तले कालिदासगिरा—'श्रद्धावित्तं विधिश्चैव त्रितयं चात्र सङ्गतम्'।

अतिशयोऽयमतिशेते, विविधैरलङ्कारैः प्रगुणितः, विविधाँश्चालङ्कारान् स्वयं प्रगुणयन्। तद्यथा जूलियायाः पद्येऽस्मिन्—

एकं वस्तु द्विधा कर्तुं बहवः सन्ति धन्विनः।
पुष्पधन्वा विजयते द्वयोरैक्यं करोति यः।।

अत्र पुष्पधन्वा मकरकेतुः सामान्येभ्यो धनुर्धारिभ्यः प्रकृष्टतर इति विजयत इति कथनात् व्यतिरेकः, पुष्पाणां धनुर्धारयति तथापि विजयत इति विरोध इति द्वावपीमावलङ्कारौ अतिशयं प्रगुणयतः, अतिशयश्च इमौ प्रगुणयति। अत्र प्राधान्यं तु अतिशयस्यैव। क्वचित्तु अलङ्कारान्तर-प्राधान्येऽतिशयस्तत्प्रकर्षाय उपादीयते। तथा हि कालिदासस्य पार्वतीवर्णने—

पुष्पं प्रवालोपहितं यदि स्यान्मुक्ताफलं वा स्फुटविद्रुमस्थम्।
ततोऽनुकुर्याद् विशदस्य तस्यास्ताम्रौष्ठपर्यस्तरुचः स्मितस्य।।

मम्मटादीनां मतेनेह यद्यर्थातिशयोक्तिः, अस्मन्मतेनोपमाया एवायं प्रकारः। सा चोपमा अतिशयेन कमप्यतिशयमेव धत्ते। भवति चात्र श्लोकः—

अतिशय एकः सततं काव्ये प्राणप्रदो धर्मो भाति।
उच्छ्वासः कवितायाः स्तम्भः साहित्यसौधस्य।।

युक्तमुक्तवान् दण्डी—

अलङ्कारान्तराणामप्येकमाहुः परायणम्।
वागीशमहितामुक्तिमिमामतिशयाह्वयाम्।।

(काव्यादर्शे-२।२२०)

अतिशये प्राचीनैः कविभिरप्रस्तुतविधानत्वेन प्रयुज्यमानानां पदार्थानां प्रस्तुतीकरणम्, प्रस्तुतानां चाप्रस्तुतीकरणम्। तेन च—

भावानचेतनानपि चेतनवत् चेतनानचेतनवत्।
व्यवहारयति कविः काव्ये यथेच्छं स्वतन्त्रतया।।

इति आनन्दवर्धनस्योक्तिमेतादृशा अतिशयप्रयोगाश्चरितार्थयन्ति। अतिशयालङ्कारोऽयं पाश्चात्त्यानां मतं बिम्बविधानं क्रोडीकरोति। वर्ण्यविषयस्य यदा सूक्ष्मोऽपि विशदः कान्तिमाँश्च मूर्तिमाँश्च बोधो भवति तदा काव्यबिम्बं तदिति कथ्यते। ते च काव्यबिम्बा मुख्यतया द्विविधाः— जातिमूलका अतिशयमूलकाश्च बिम्बाः। जातिमूलकानां बिम्बानामुदाहरणानि उपरि जात्यलङ्कारनिरूपणे दत्तान्येव। अतिशयमूलका बिम्बा इह विचार्यन्ते। यत्र प्रस्तुतानामप्रस्तुतत्वमन्यथा वा अथवा अचेतनानां चेतनत्वं तत्र अतिशयमूलको बिम्बः। सोऽपि द्विविधः— गतिमूलकः स्थितिमूलकश्च। आद्यो यथा खिस्तेबटुकनाथशास्त्रिणां मधुबन्धुरिति काव्ये वसन्तवर्णने—

अपसरति शैशिरी श्रीः श्वश्रूरिव कर्मतो गहनात्।
सुषमा नवा वधूरिव भाति तदीयः प्रियश्च मधुबन्धुः।।
(कविभारतीकुसुमाञ्जलौ, पञ्चमभागे, पृ. १९)

प्राचीनकाव्ये नवा वधूः वासन्तिकसुषमया उपमीयते। इह तावत् माधवी शोभैव नववध्वोपमिता। मधुबन्धुर्वसन्तश्च तस्याः प्रिय उक्तः। विशिष्ट इह कविप्रतिभायाः समुल्लासो जातः शैशिर्याः श्रियोऽपसरणचित्रणे। शिशिरेऽपि भवति श्रीरिति कविरूरीकुरुते; परन्तु सम्प्राप्ते वसन्ते परावर्तते शिशिरगता सा श्रीरिति परावर्तनक्रियाया बिम्ब इह यश्चित्रितस्तत्कृते गहनकर्मविरतायाः श्वश्र्वा अपसरणस्य उपमा प्रादायि। इदमत्राकूतम्—गृहे सुरूपां लक्ष्म्यामिव नववध्वां समागतायां यथा श्वश्रूस्तस्यां सकलं गहनं गृहभरं न्यस्य निवर्तते, तथैव वसन्तसुषमायां समागतायां शैशिरी श्रीर्निवर्तते। एतेन भारतीयपरिवारस्य माधुर्यमयी कापि च्छविर्बिम्बभावेन कविनेह उपस्थापिता। तेन च यथा

वासन्तिक्यां सुषमायां समुल्लसन्त्यां शिशिरस्यापसरणं समुचितम्, तथैव सुयोग्यायां नववध्वां गृहमागतायां श्वश्र्वास्तस्यां सकलं गृहकृत्यभरं गार्हस्थ्यशकटदायित्वं वा न्यस्य निश्चिन्तसंन्यस्तजीवननिर्वहणमेव समुचितमिति विचारोऽपि अत्र सम्यग् व्यज्यते। अत्र वासन्तिकसुषमासमागमः शैशिर्याः श्रियोऽपसरणमिति गतिद्वयी विशिष्य चमत्कारमयं बिम्बविधानं तनुते। तेन बिम्बानां गतिमयताऽत्र मनोहारिणी। स्थितिमूलको बिम्बो यथा कालिदासस्य—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
तथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्।।

अत्र नायकयोर्वृत्तान्तं निशाशशियुगलेऽध्यवसितमिति अतिशयः। तत्रापि प्रेम्णस्तन्मयतायामुभौ निश्चलौ जाताविति स्थितिमूलकत्वं बिम्बस्य। वस्तुतस्तु समग्रोऽपि काव्यार्थो भवति आकृतिमान्। 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थाः' इति न्यायसूत्रोक्तेः (२।२।६६)। व्यक्तिर्मूर्तिमती भवत्येव, व्यक्तिर्गुणाश्रया मूर्तिरिति तत्रैव (२।२।६७) कथनात्। जातिव्यक्त्योरविनाभावसम्बन्धात् सर्वोऽपि पदार्थस्तथैव काव्यार्थोऽपि मूर्तिमानेव। भवतश्चात्र श्लोकौ—

भावो रागश्च लालित्यमङ्गप्रत्यङ्गसौष्ठवम्।
लावण्यं कान्तिमत्ता च बिम्बस्येमे गुणाः स्मृताः।।

सुसमाहितसंस्थानं सन्निवेशस्य चारुता।
स्फुटत्वं सूक्ष्मता चैव अन्यूनानतिरिक्तता।।

इति सङ्घटनाश्रिता अलङ्काराश्चत्वारः। अथ विरोधमूलका आरभ्यन्ते। तत्र प्रथमो विरोधः—

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मप्रतीतिर्विरोधः।।२।६।६।।

अयमेव विरोधाभास इत्यपि कथितः कैश्चित्। तत्र आभासः सहृदयप्रतीतिदृष्ट्या उच्यते। विरुद्धा धर्मा वस्तुनि वस्तुतो भवन्त्येव। कविरेव वस्तुनि विरुद्धधर्माधिष्ठानं जानाति निदर्शयति च।

ननु यदि विरोधालङ्कारे वस्तुनि विद्यमानयोर्धर्मयोः परस्परं विप्रतिषेधो विरोधो वा तर्हि विरोधस्य परिहारः कथं स्यात्? न च न भवतु नाम विरोधपरिहारः, न तेन कवित्वस्य काऽपि क्षतिरिति वक्तुं शक्यते, तादृशस्य परिहारस्य सहृदयैरनुभवात्। अत्र ब्रूमः— वस्तुनस्तावद् द्विविधं रूपं स्वीकृतं महिमभट्टादिभिः—सामान्यं विशेषश्च। तत्र क्वचिद् सामान्यरूपे विरोधः, विशेषरूपे च विरोधपरिहारः। अस्मिन्मते तु वस्तुनस्त्रिविधं स्वरूपम्—आधिभौतिकाधिदैविका-ध्यात्मिकभेदेन। तत्र क्वचिदाधिदैविकरूपे एकस्य वस्तुनि अधिष्ठितं धर्मद्वयं परस्परेण विरुणद्धि, तदेव आधिदैविक आध्यात्मिके वाऽस्य रूपे विरोधं जहाति। तथा हि भवभूतिराह राममधिकृत्य—

वज्रादपि कठोराणि मृदूनि कुसुमादपि।
लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हति।।

अत्र कठोरत्वं मृदुत्वं च परस्परं विरुद्धम्, एकस्मिन्नेव वस्तुनि लोकोत्तरचित्ते अधिष्ठितम्। आधिभौतिकजगति लोकोत्तरचित्तं कर्तव्यं पालयत् कठोरम्, आधिदैविकजगति तदेव भावनाभिः सम्भृतं कुसुमकोमलं भवति, आध्यात्मिकदृशा तु यदेव वज्रकठोरं तदेव परमकोमलं भवति। य एवाणोरणीयान् स एव महतो महीयान् भवति। अत एव आधिभौतिकजगति दृश्यमानं वा आधिभौतिकरूपेण निरूपितं वा वस्तु विरुद्धधर्माधिष्ठितं भाति, आधिदैविके आध्यात्मिके वा जगति स्थापितम्। यद्वा आधिदैविकेन आध्यात्मिकेन स्वीयेन रूपेण विलोक्यमानं तदेव भवति निवृत्तविरोधम्। यथा ऋग्वेदे कितवसूक्त उक्तम्—

नीचा वर्तन्ते उपरि स्फुरन्ति अहस्तासो हस्तवन्तं सहन्ते।
दिव्या अङ्गारा इरिणे निउप्ता शीताः सन्तो हृदयं निर्दहन्ति।।

अत्र यद्वस्तु नीचैर्याति तदेव उपरि कथं याति, यद्धस्तविहीनं तत् कथमन्यस्य हस्तं गृह्णातीति विरोधः। विरोधपरिहारस्तु व्यङ्ग्यार्थबोधेन भवति। कितवसूक्तं समग्रमेव विरोधालङ्कारसङ्ग्रथितम्। कितवः अद्य द्यूताय न गमिष्यामीति चिन्तयति, किन्तु पुनर्गच्छति!

क्वचित्तु आधिभौतिकदृशा वस्तुनि न विरुद्धधर्माध्यासः कविदृशा तत् स्थाप्यते। अत एव मम्मट आह—विरोधः सोऽविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यद् वचः। (काव्यप्रकाशे-१०, सूत्रं-१६६)

वस्तुवृत्तेनाविरोधेऽपि विरुद्धत्वेन यदभिधानं वस्तुवृत्ते विद्यमानस्य विरोधस्य प्रकाशः अविरोधे च पर्यवसितिः।

इत्थं विरोधालङ्कारो द्विविधः—(१) आपाततो विरोधप्रतीतौ अविरोधे पर्यवसानम्, (२) आपाततो अविरोधप्रतीतौ विरोधस्थापनम्। अत एव सर्वत्र विरोधस्य समाधानं न भवति विरोधालङ्कारे। अयं च विरोधो वा अविरोधो वा एकस्मिन् वस्तुनि भवति। वस्तु च जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यभेदेन चतुर्धा। जातेर्जात्यादिचतुष्टयेन विरोधे चत्वारः, गुणस्य जातिवर्जं त्रिभ्यां विरोधेन त्रयः, क्रियाया एवमेव द्वाभ्यां विरोधेन द्वौ, यदृच्छासन्निवेशितस्य च तेनैव विरोधे एको भेदः, इत्थं साकल्येन दशभेदा मम्मटेन विरोधालङ्कारस्य निरूपिताः। वस्तुतो जगद्गतः समस्तो विरोध एतेषु दशसु विश्रान्तः। जीवनं जगदेव आपाततो विरोधेन द्वन्द्वात्मकतया वा विरचितम्। कविरेनं विरोधं परिचिनोति, परिचाययति च।

विरोधस्य इमे भेदा मम्मटेन संसारगतं विरोधं परिलक्ष्य प्रकीर्तिताः। काव्ये नाट्ये अन्यासु वा कलासु तु विरोधालङ्कारस्तद्गतशिल्पे संरचनायां वा अन्तरनुस्यूतो भवति। तद्दृशा च विरोधालङ्कारः पदार्थगतश्चरित्रगतः पात्रस्याचरणगतो वा वाक्यगतः प्रकरणगतः प्रबन्धव्यापी च भवितुमर्हति।

तत्र पदार्थगतो विरोधस्तु कितवसूक्तोत्तरचरितयोरुपर्युद्धतपद्यद्वयेन वेदितव्यः। चरित्रगत आचरणगतो वा विरोधो यथा उत्तरचरिते या वासन्ती रामस्य प्रशंसायां 'लोकोत्तराणां चेतांसि को नु विज्ञातुमर्हती'त्याह सैव वासन्ती राममभियुनक्ति कठोरं च निर्भर्त्सयन्ती कथयति—

अयि कठोर यशः किल ते प्रियं
किमयशो ननु घोरमतः परम्।
किमभवद् विपिने हरिणीदृशः
कथय नाथ कथं बत मन्यसे।।

अत्र यस्य यशः सर्वथा प्रियः स एव अयशस्करं वैदेहीपरित्यागमाचचारेति चरित्रगतो विरोधः प्रतिपाद्यते। अन्यच्च या वासन्ती रामस्य श्लाघायां वचोवितानं प्रथयन्ती बभूव सैव क्षणानन्तरं तं प्रत्यक्षमेवं दूषयति। अयं वासन्त्या विरोधः। अयं प्रकरणाश्रितो विरोधो वा। मनुष्यजीवनं मनुष्यचरित्रं च विरोधानामन्तर्विरोधानां वा महत्पुञ्जम्। तस्य च निदर्शनं भवति विरोधालङ्कारप्रयोगेण। वासन्त्या मनसि रामं प्रति आस्था अनास्था च युगपज्जागर्ति। मनस्तावदचिन्त्यहेतुकं विकल्पयति। रामं प्रति स्नेहवशात् कठोरैः शब्दैस्तं वासन्ती तुदतीति समाधानं यदि दीयेत, तदा यस्मिन्नेव स्नेहातिरेकः स एव परुषैर्वचोऽङ्गारकैः पीड्यत इति पुनर्विरोधः। इत्थं जगद्गतस्य विरोधस्य न भवति सर्वदा सर्वथा समाधानम्।

अथ प्रकरणगतो विरोधो विचार्यते। तत्र क्वचिद् अतिसामान्ये वस्तुन्यपि विरोधस्तथा तिष्ठति यथा न भवति विरोधपरिहारः। एतादृशा विरोधा आङ्ग्लभाषायां भवन्ति पैराडॉक्स-(paradox)-पदवाच्याः। तथा हि महाकवी रत्नाकर आह 'हरविजय'महाकाव्ये—

स्पृष्टा न या दिनकरांशुभिरह्नि वह्नि-
गर्भैरपि क्वचन मम्लमुरम्बुजिन्यः।
मम्लुस्तरां शशिकरैरपि ताः सुधार्द्रै-
रक्षुण्णवामचरिता बत पद्मनेत्राः।। (२०।७०)

सूर्यस्य अङ्गारप्रखर आतपे समधिकतरं विकसति कोमला कमललता। सैव चन्द्रकिरणैः स्पृष्टा म्लायतेतराम्। एष अनिर्वचनीय-समाधानो विरोधः 'पैराडॉक्स'-रूपः। कमलनयनास्तादृशा एव भवन्ति वामचरिता इति कविरत्र कामं समादधातु। परन्तु कमलनयनाः किमर्थमक्षुण्णवामनयना इत्यत्र को हेतुरिति प्रश्ने किं समाधानं स्यात्? अत एव विरोधे समाधानमनिर्वाच्यं भवति क्वचित्। तदुक्तं कालिदासेन—

स्वयं विधाता तपसा फलानां केनापि कामेन तपश्चचार।

अत्र य एव तपसः फलानां विधाता, स एव तपस्यति तदपि फलस्य वाञ्छया इति विरोधः, कस्य फलस्य वाञ्छयायं विधाता तपस्यतीति अनिर्वाच्यं तिष्ठति।

अथ प्रबन्धगतो विरोधो विचार्यते। प्रायशो विरोधमूलका विरोधगर्भा विरोधावसानाश्च भवन्ति उत्तमोत्तमाः प्रबन्धाः, इह उत्तमोत्तमकाव्यतया व्यपदिष्टाः। समग्रस्य शाकुन्तलस्य संरचनायां विरोधालङ्कार आद्यन्तमनुस्यूतः, स च साधयति नाटकस्यास्य प्रकर्षम्। 'कुतो धर्मक्रियाविघ्नः सतां रक्षितरि त्वयि' इति मुनिकुमारप्रशंसितो वर्णाश्रमाणां गोप्ता एव धर्मक्रियासु विघ्नमाचरति। तस्य शकुन्तलां प्रति प्रेमा एव मूर्तो विघ्नस्तपस इव जायते। य एव अपरेषु विनयाधायकः स एव पौरव रक्ष विनयमिति स्वस्मिन् विनयाधानाय प्रार्थ्यते। यत् पुष्पभाजनं शकुन्तलायाः सौभाग्यदेवताया अर्चनार्थं नीयते, तदेव विलुठ्य तस्या असौभाग्यसूचकममङ्गलोदर्कं च भवति। यः शापः स वरः, यश्च वरः स शापं सूचयति दुर्वाससः कण्वस्य चोक्त्योः, किन्त्वभिज्ञानाभरणदर्शनात् शापो निवर्त्स्यंत इति निवर्तनस्य ध्रुवत्वप्रतिपादनात् (अन्यथा यदि दर्श्येत तर्हि निवर्तेत इति कथ्येत), ययातेरिव शर्मिष्ठा भर्तुर्बहुमता भवेति कथनाच्च शर्मिष्ठेव आदौ महद्दुःखमनुभवितासि अनन्तरं सुखिमिति सङ्केतात्। अन्ततश्चापि—

यथा गजो नेति समक्षरूपे
तस्मिन्नपक्रामति संशयः स्यात्।
पदानि दृष्ट्वा तु भवेत् प्रतीति-
स्तथाविधो मे मनसो विकारः।।

इत्यत्र विरोधगता भावा विन्यस्ताः। इति प्रकरणगताः प्रबन्धगताश्च विरोधालङ्काराः शाकुन्तलीयां संरचनां समुन्नयन्ति। भवभूतिरपि भूम्ना विरोधालङ्काराणां गहने प्रयोगे विचक्षणः।

उत्सिक्तस्य तपःपराक्रमनिधेरभ्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोः फालश्च मां कर्षतः।

वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय-
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरः स्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः।।

एवमेव रामं वीक्ष्य परशुरामस्य, चन्द्रकेतुं वीक्ष्य लवस्य, लवं च दृष्ट्वा चन्द्रकेतोर्मनोदशा विरोधपिहिता वरीवर्त्यते। भावसन्धेरुदाहरणानीमानि इति तु ध्वनिवादिनां मतम्। अस्मन्मतेन तु एकस्मिन् जने परस्परं विरुद्धविचाराणां मनोभावानां वा विद्यमानत्वे विरोधालङ्कार एव।

अयं च विरोधो उपमाश्लेषादिभिः संसृष्टो काव्ये समधिकतरं महिमानं पुष्णाति। विरोधानुप्राणितोपमा कलयति किमपि कामनीयकम्। तद्यथा—

सविता विधवति विधुरपि सवितरति तथा दिनन्ति यामिनयः।
यामिनयन्ति दिनानि सुखदुःखवशीकृते मनसि।।

इति मम्मटोदाहृते पद्ये। अत्र सवितुर्विधुत्वे, विधोः सवितृत्वे, दिनस्य यामिनीत्वे, यामिनीनां च दिनत्वे एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मदर्शनाद् विरोध आभासते, स च परिणामालङ्कारं पोषयति। यथा वा ममैव जनतालहर्याम्—

ग्रीष्मेऽङ्गारकरैस्तपन्निह करैर्मित्रोऽप्यमित्रायते
वर्षन् भग्नकुटीरजर्जरवृतौ देवस्तु दैत्यायते।
क्षुत्क्षामस्य विषायते मधुरहो नो माधवस्त्रायते
सामन्तैर्बहुखेदितस्य निखिलं विश्वं विरुद्धायते।।

अत्रोपमा श्लेषश्चोभावपि विरोधेनानुप्राणितौ। कर-मित्र-देव-मधु-माधव-शब्दा अत्र श्लिष्टाः।

इत्थं न केवलमलङ्कारान्तरे अपि तु लघुप्रबन्धे महाकाव्यादावपि प्राणप्रदो भवति विरोधः।

यावान् गहनो विरोधो प्रबन्धे वा खण्डकाव्ये लघुनि काव्ये वा अन्तरनुस्यूतस्तावानेव महिमा तत्तत् काव्यस्य, तावती च गहना प्रतिफलति तस्मिन् महाकवेर्दृष्टिः। विरोधे सर्वत्र समाधानं न भवति,

समाधानाय धीर्जागर्ति। अयमेव महाकवीनां कर्तृत्वं यत् सकलविरोधानुभूतौ सत्यां तत्समाधानधियो जागरयिषा।

अथ असङ्गतिः—

सङ्गतेरभावोऽसङ्गतिः।।२।६।७।।

सङ्गतेरभावोऽसङ्गतिः। असंश्लेष इति यावत्। यस्मिन् धर्मिणि येन धर्मेण भाव्यं, स तत्राविद्यमानः, अन्यत्र च विद्यमानः सन्नसङ्गतिमवतारयति। सा चेयं देश-काल-प्रकरण-पात्र-प्रबन्धगतत्वेन पञ्चधा। कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिरिति साहित्यदर्पणकारः। जीवने जगति आपाततो बहुधा विरोध इव असङ्गतिरपि पिनद्धा दृश्यते। कविरिह तां साक्षात्करोति तदन्तरनुस्यूतां सङ्गतिमपि च निर्दिशति।

शोभाकरमित्रस्तु असङ्गतिं दिक्कालपरिव्यापिनीं निदर्शयन् अष्टौ प्रकारानस्या निरूपयामास। एतेषु अष्टसु प्रकारेषु निखिलो जगत्प्रपञ्चः समाविष्टः। दिक्कालगतं कार्य-कारणयोरन्यथात्वमसङ्गतिरिति लक्षणं शोभाकरोऽसङ्गतेराह। सा च कार्यस्य स्वस्थानात् च्युतस्यान्यस्थान आविर्भावे, भिन्नस्थानयोर्भाव्यस्य तस्य एकस्मिन् स्थान आविर्भावे, पूर्वं सम्भाव्यस्य पश्चाद्भावे, पश्चात् सम्भाव्यस्य पूर्वभावे वा कारणसहभाव्यस्य पश्चाद्भावे अभावे वा ऐहिकस्य कार्यस्य आमुष्मिकत्वे, आमुष्मिकस्य चैहिकत्वे इत्यष्टौ भेदाः।

गीतिकाव्येषु प्रायोऽसङ्गतिरलङ्कारः कवेः स्वदेशकालसमीक्षणं प्रकटीकुरुते। तद्यथा देशकालगताऽसङ्गतिर्ज्ञानकवेर्गजलकाव्ये—

पटः किं तन्तुभिः सिद्ध्येदितस्तानस्ततो वानम्।

पात्रगता प्रकरणगता प्रबन्धगता च त्रिविधाऽप्यसङ्गतिरत्यन्तं मनोहारिणीं सङ्गतिं धत्ते भगवदज्जुके प्रहसने। भगवतः संन्यासिनः शिष्यः शाण्डिल्योऽध्ययनाय मुहुर्मुहुः प्रेरितो भोजनं भैक्ष्यमेव केवलं चिन्तयति, योगस्य वार्तां भोगवार्तायां परिणमितुं यतते। मृतायां गणिकायां वसन्तसेनायां स तस्या मृतशरीरमाश्रित्यापि लिप्सां प्रकटीकुरुत इति ब्रह्मचारिणि शाण्डिल्ये सर्वमिदमस्थाने विजृम्भमाणं दुर्विपाकं पात्रगताया असङ्गतेरुदाहरणम्।

शाण्डिल्यं प्रबोधयितुं भगवान् स्वकीयं जीवं मृताया गणिकाया देहे सङ्क्रामयति। असङ्गतेरद्भुत एव चमत्कारलोकस्तदानीं स्फुरति। गणिका संन्यासीव आचरति, पश्चाच्च यमदूतेन विनिवेशिते संन्यासिनो देहे गणिकाया जीवे संन्यासी गणिकावत् समाचरति। इत्थं प्रभवति भगवति गणिकाभावो, गणिकायां च विन्यस्यते संन्यासः। तद्यथाऽऽह शाण्डिल्यः—

नैव भगवान्, नैव गणिका। भगवदज्जुकं संवृत्तम्।

वामनस्तु असङ्गतिं निरूपयन्—

पीतं पानमिदं त्वयाऽद्य दयिते मत्तं ममेदं मनः
पत्राली तव कुङ्कुमेन रचिता रक्ता वयं मानिनि।
त्वं तुङ्गस्तनभारमन्थरगतिर्गात्रेषु मे वेपथुः
त्वन्मध्ये तनुता ममाधृतिरहो मारस्य चित्रा गतिः।।

तथा च—

सा बाला वयमप्रगल्भमनसः सा स्त्री वयं कातराः
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते सखेदा वयम्।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा गन्तुं न शक्ता वयं
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम्।।

इति काव्यालङ्कारसूत्रस्य वृत्तौ (४।३।१२) विरोधालङ्कारस्य उदाहरणद्वयमुदाजहार। तदयुक्तम्। एतयोरसङ्गत्यलङ्कार एव।

अथ अपह्नुतिः—

अपह्नुतिर्निषेधेन स्थापना वस्तुतत्त्वस्य।।२।६।८।।

अवास्तविकस्य कविदृशा निषेधार्हस्य वा निषेधपुरस्सरं परमार्थतत्त्वस्य स्थापना अपह्नुतिः। तथा हि—

पुराणमित्येव न साधु सर्वं
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद् भजन्ते
मूढः परप्रत्ययनेयबुद्धिः।।

अत्र पुराणमात्रे साधुत्वबुद्धिं निषिध्य परीक्षया यत् साधु सिध्येत तस्य स्थापना विहिता। यथा वा भर्तृहरेः—

केयूरा न विभूषयन्ति पुरुषं हारा न चन्द्रोज्ज्वला
न स्नानं न विलेपनं न कुसुमं नालङ्कृता मूर्धजाः।
वाण्येका समलङ्करोति पुरुषं या संस्कृता धार्यते
क्षीयन्ते खलु भूषणानि सततं वाग्भूषणं भूषणम्।।

यथा वा मदीयजनतालहर्याम्—

नो दानैर्न तपोभिरप्यतितरां नो चेज्यया विद्यया
नो काषायपटैरखण्डविभवैः स्यात् संस्कृतो मानवः।
हित्वा स्वार्थपरायणैकधिषणां धृत्वा च सेवाव्रतं
लोकाराधननिष्ठयैव पुरुषः संस्कार्यते धार्यते।।५।।

प्रकृतं यन्निषिध्यान्यत् स्थाप्यते सा त्वपह्नुतिरिति पुरातना आचार्याः। मम्मटादीनां मतेनात्र प्रकृतं नाम उपमेयम्। अपह्नुतिरेतेषां मतेन साधर्म्यमूलक एवालङ्कारः। कुन्तक-भोजराजादयस्तु औपम्यमूलकतामतिरिच्यतेऽपह्नुतिरिति मन्वते। कुन्तकस्तु—

अन्यदर्पयितुं रूपं वर्णनीयस्य वस्तुनः।
स्वरूपापह्नवो यस्यामपह्नुतिरसौ मता।। (व.जी. ३।५९)

इति लक्षणं विधाय स्वरूपापह्नवः स्वरूपापलाप इति व्याख्यानं चकार, उदाजहार च 'तव कुसुमशरत्वं शीतरश्मित्वमिन्दोर्द्वयमिदमयथार्थं दृश्यते मद्विधेष्वि'त्यादि कालिदासीयं पद्यं धर्ममात्रापह्नुत्युदाहरणत्वेन।

वामनस्तु समेन वस्तुनाऽन्यापलापोऽपह्नुतिरिति (का.लं.सू. ४।३।५) इति लक्षणं विधत्ते।

वस्तुतः परमार्थसत्तायाः स्थापनार्थं प्रकृतस्य परिदृश्यमानजगतो निषेध एव अपह्नुतिः, न तत्र सादृश्येऽनुबन्धः। सादृश्यमूलाऽपि कामं भवत्वपह्नुतिः। वाच्यव्यङ्ग्यभेदेनेयं द्विविधा। व्यङ्ग्यायामपि क्वचित् सादृश्ये परिणतिः क्वचिन्न। तथा हि—

अङ्गारप्रखरैः करैः कवलयन्नेतन्महीमण्डलम्।
मार्तण्डोऽयमुदेति केन पशुना लोके शशाङ्कीकृतः।

अत्र सूर्यचन्द्रमसोर्न किमपि सादृश्यम्। चन्द्रं निषिध्य विरहिदृशा सूर्यः स्थाप्यते।

क्वचित्तु केवलं निषेध एव अपह्नुतिः, अन्यस्य स्थापनं भवेन्मा वा भवेत्। तथा हि—

निर्दयं विरौम्यहं न कोऽपि शृणोति माम्।
मामके हि भारते कीदृशी स्वतन्त्रता।।

इति अभिराजकवेरुक्तौ प्रकृतायाः स्वतन्त्रताया निषेधो न शाब्दः अपि तु प्रत्याय्यः। नेयं वास्तविकी स्वतन्त्रतेति प्रतीतेः पर्यवसायित्वे अपह्नुतिरेव।

चन्द्रालोककारस्तु—अतथ्यमारोपयितुं तथ्यापास्तिरपह्नुतिरिति लक्षणं विवृण्वन् तथ्यस्य निराकरणेऽपह्नुतिं मनुते। बौद्धाचार्यः सङ्घरक्षितः अपह्नुतेर्नामैव विपरिवर्त्य वञ्चनामिति नाम प्रयुङ्क्ते। तर्हि असदुपदेशपरकं तावत् काव्यं वर्जनीयं स्यात्, रण्डागीतानि काव्यानि इति मिथ्याधर्मशास्त्राचार्याणामुक्तिश्च सत्यत्वमीयात, तथैव काव्यालापाँश्च वर्जयेद् इत्यपि स्मृतिकाराणां निर्देशः सर्वत्र पालनीयः स्यात्। नैतत्। वस्तुतो जयदेवस्य लक्षणे परस्परविरोधः। तथा हि अपह्नुतेः पञ्चसु भेदेषु भ्रान्तापह्नुतिरिति एको भेदस्तेन कीर्तितः। भ्रान्तापह्नुतेर्जयदेवस्यैव लक्षणमिदम्—तथ्यस्य स्थापनं भ्रान्तापह्नुतिरिति। वस्तुतः काव्यं न अतथ्यं स्थापयति, अतथ्यस्य निरासमेव करोति। आपाततो वास्तविकीं प्रतीयमानामवास्तविकतां निरस्य परमार्थतया या वास्तविकता तस्य स्थापनेऽपह्नुतिरिति वक्तव्यम्। तथा हि—

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

अत्र आपाततो यत् प्रतीयमानं गृहमिति, तन्न वस्तुतो गृहं, गृहिण्या अवस्थानादेव परमार्थतो गृहं भवतीति प्रतिपादितम्।

अपह्नुतावापाततो मिथ्याप्रतीयमानस्य स्थापना क्वचिद् भवति, तदपि सत्यस्यैव स्थापनार्थम्। यदुक्तं भर्तृहरिणा—असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।

इत्थमपह्नुतिर्निषेधेन भवति, अपह्नवेनापीति द्विधा—निषेधमूला अपह्नवमूला च। उभयत्रापि निषेधो वा अपह्नवो वा वाच्यमुखेन व्यङ्ग्यमुखेनेति चत्वारो भेदाः। एतेषां चतुर्णामपि वाक्यगतत्वेन, प्रकरणगतत्वेन, प्रबन्धगतत्वेनेति मुख्यतस्त्रैविध्याद् द्वादशविधा अपह्नुतिः।

अपह्नुतिरियं क्वचिद् रूपकावसाना भवति, क्वचिच्च रूपकनिषेधमूला—

नेदं नभोमण्डलमम्बुराशि-
नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः।
नायं शशिः कुण्डलितः फणीन्द्रो
नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः।।

अत्र नभोमण्डलं, ताराः, शशिः, कलङ्कश्चेति चत्वारः पदार्थाः प्रकृतभूताः। तान्निषिध्य क्षीरसागर-तत्फेन-फणीन्द्र-मुरारय आरोपिताः। अतो रूपकं गर्भीकृत्यावसानमिहापह्नुतेः।

अप्पयदीक्षितस्तु षड् भेदानपह्नुतेराह कुवलयानन्दे। तेषु छेकापह्नुतिरपि परिगणिता। छेकापह्नुतौ द्व्यर्थकेन वचोविन्यासेन एकस्मिन् वस्तुनि उपयुज्यमाना भणितिरप्रत्याशितत्वाद् अन्यस्मिन् वस्तुनि साध्यते।

यदि तु समग्रेऽपि प्रबन्धे प्रकृतस्य निषेधोऽप्रकृतस्य काम्यस्य वाञ्छनीयस्य च स्थापना तदा अपह्नुतिरलङ्कारः प्रबन्धगतः स्यात्। तद्यथा मालविकाग्निमित्रे 'पुराणमित्येव न साधु सर्वम्' (१।२) इत्यत आरभ्य अपह्नुतेरपह्नवस्य वा य उपक्रमः कविनाऽकारि स आद्यन्तं निर्व्यूढः। स च आरम्भत एव दृश्यते मालविकाग्निमित्रे। देवी धारिणी मालविकां निह्नुते अग्निमित्रात्। अनन्तरं सा नानुमन्यते गणदासहरदत्तयोर्मिथः प्रसक्ते कलहे उभयोः शिष्यावतरणम्। अग्निमित्रस्य

कामतन्त्रनैपुणीमसौ निषिध्य राजकार्यनैपुणीं तस्मिन्नाशंसते—यदि राजकार्येषु ईदृशी उपायनिपुणता आर्यपुत्रस्य ततः शोभनं भवेदिति प्रथमाङ्क एव। राजाऽपि 'अलमन्यथा गृहीत्वा न खलु मनस्विनि मया प्रयुक्तमिदम्' (१।२०) इति समाधाने वञ्चनामेव प्रयुङ्क्ते। प्रथमाङ्के मालविका नैवावतरति; परन्तु समग्रोऽप्यङ्कस्तस्या गोपने प्रकटीकरणे च प्रवर्तते। मालविकाया निषेधे प्रकटीकरणे चापह्नुतेरद्वितीय एव प्रकार आविष्कृतो महाकविना। अथ च—

उचितः प्रणयो वरं विहन्तुं
बहवः खण्डनहेतवो हि दृष्टाः।
उपचारविधिर्मनस्विनीनां
न तु पूर्वाभ्यधिकोऽपि भावशून्यः।। (३।३)

इत्यत्राप्यग्निमित्रो धारिण्याः प्रणयं निषिध्य मालविकां प्रति प्रवर्तते। मालविका स्वप्रेमाणं नानुमन्यते, राज्ञ आकर्षणमपि न गणयति। मालविकायाश्छलिकं नाट्यं निखिलमप्यपह्नुतिरेव। आह च बकुलावलिकाम्—'अलीकं मन्त्रयसे। एतदेव मयि नास्ति'। बकुलावलिका च निषेधं निराकृत्य स्थापयति राज्ञस्तस्मिन् बहुमानम्—'सत्यं त्वयि नास्ति। भर्तुः कृशेषु सुन्दरपाण्डुरेषु दृश्यते अङ्गेषु' इति। पुनराह सा—'नहि, नहि, भर्तुः खल्वेतानि प्रणयमृदुलान्यक्षराणि वक्त्रान्तरितानि'। मालविकाया मोचनाय विदूषकोऽपरं छलिकनाट्यं रचयति। तत्र यज्ञोपवीतं पादाङ्गुष्ठे निबद्धं भवति। राजा गूढमभिसरति प्रमदवनम्। यदा मालविका भट्टिन्या भयं प्रकटीकुरुते अग्निमित्रश्च तामाश्वासयति—'अयि, न भेतव्यम्' इति, तदा साऽऽह—'यो न बिभेति स मया भट्टिनीदर्शने दृष्टसामर्थ्यो भर्ता'। अत्र न त्वं शूरोऽपि तु कापुरुष इति व्यङ्ग्यम्। यादृशश्चित्रगतो ननु तादृश एवान्यसङ्क्रान्तहृदय आर्यपुत्रः—इति कथयन्ती इरावती स्वभर्तुरात्मनि स्नेहस्य निषेधं विधत्ते। यदा इरावतीं दृष्ट्वा सर्वे सम्भ्रान्तास्तदा विदूषको जङ्घाबलावलम्बनमेव श्रेयस्करं मनुते। इदमप्यपह्नुतेरेव प्रकारः। वस्तुतो कालिदासीयो विदूषकः स्वयमेवापह्नुतिरेव।

केवलं मालविका, परिव्राजिकाऽपि अपह्नुत्या अन्तःपुरे वसति। अग्निमित्रस्य चरित्रं यथा कविना प्रस्तुतं तन्निषिध्य यादृशं वाञ्छनीयं तत् कविः-स्थापयति। इत्थं समग्रे प्रबन्धे क्वचित् कैतवं कलयति कलाम्, अन्यत्र विलसति वञ्चना। तेन चापह्नुतेरयं प्रबन्धगतो विलासः। कविस्तु वञ्चनाया निदर्शनं करोति, निराकरोति च ताम्। भरतवाक्यमप्यपह्नुतिरेव। 'आशास्यमीतिविगमः प्रभृति प्रजानां सम्पत्स्यते न खलु गोप्तरि नाग्निमित्रे'—इति कथने नकारद्वयमग्निमित्रेण प्रायोजि। इत्थमपह्नुतिः समस्तमपि जगद् विषयीकृत्य तत्रत्यां मायां मिथ्याप्रपञ्चं वा निरस्यति। भवतश्चात्र श्लोकौ—

अपह्नुतिप्रपञ्चोऽयं प्रबन्धे सम्यगञ्चितः।
मिथ्याप्रपञ्चं जगतः सर्वमेव निरस्यति।।

जीवने च यथा व्याप्तिर्विज्ञायते विचक्षणैः।
अपह्नुतेस्तथा काव्ये चास्या व्याप्तिः समीड्यते।।

अथ विषमम्—

असमानः संयोगो विरूपकार्योत्पत्तिर्विषमः।।२।६।९।।

विषमालङ्कारद्वारेण जगति विद्यमानामसमतां साक्षात्कारयन् तां निराकरोति कविः। असमानसंयोगनिरूपको विरूपकार्योत्पत्तिनिदर्शक इति द्विधा विषमः। पूर्ववद् वाक्य-प्रकरण-प्रबन्धगतत्वमस्य ज्ञेयम्।

वाक्यगतः प्रथमो यथा—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्।।

वाक्यगतो द्वितीयो यथा—

आजन्मनः शाठ्यमशिक्षितो य-
स्तस्याप्रमाणं वचनं जनस्य।
परातिसन्धानमधीयते यै-
र्विद्येति ते सन्तु किलाप्तवाचः।।

यस्य प्रामाणिकता स्वीकार्या तस्य न स्वीक्रियते, यस्मिंश्च न प्रामाणिकता तस्य पुनः स्वीक्रियत इति विरूपकार्योत्पत्तिः, दुष्यन्तेन विहिते शकुन्तलायाः प्रत्याख्याने शार्ङ्गरववचसा उद्घाट्यते।

प्रकरणगतो यथा शाकुन्तल एव मृगयासक्तेन राज्ञा आश्रमपालितस्य हरिणस्यानुधावनम्, हरिणवधाय च शस्त्रसन्धानम्। ये रक्षकास्त एव भक्षका जाता इत्यत्र विरूपकार्योत्पत्तिः, तेन च विषमोऽलङ्कारः। अत एव निवार्यते स राजा तपस्विभिः—

तत् साधुकृतसन्धानं प्रतिसंहर सायकम्।
आर्तत्राणाय वः शस्त्रं न प्रहर्तुमनागसि।।

रक्षिते आश्रमहरिणे हरिणीव शकुन्तला राज्ञो मृग्यतां याता। शकुन्तलां प्रति तस्याभिलाषोऽपि विषमस्यैवोदाहरणम्। क्वायं चक्रवर्ती राजा क्व च आश्रमपालिता निसर्गमुग्धा शकुन्तला! राजा एव तां प्रलोभयति।

न पुनर्विषम इव समोऽपि अलङ्कार इति मन्तव्यम्। यथा असङ्गतिस्तथैव वैषम्यं जगति अनुविद्धम्। असङ्गतेर्वैषम्यस्य निराकरणाय तन्निदर्शनं कविना यदा विधीयते तदा अलङ्कारः। न तु तद्वत् सङ्गतेः साम्यस्य वा निराकरणं काम्यम्।

एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्धधर्मनिरूपणं वैषम्यम्। रुय्यकादिभिस्तु विरूपकार्योत्पत्तिरनर्थप्राप्तिरत्यन्ताननुरूपसंघटना चेति त्रयः प्रकारा अस्योरीकृताः। विरोधे समाधानं शक्यसम्भवम्, न विषम इति उभयोर्विशेषः।

न नटा न विटा न गायका न च सभ्येतरवादचञ्चवः।
नृपमीक्षितुमत्र केवलं स्तनभारानमिता न योषितः।।

अत्र आत्मानमुद्दिश्य निषेधमुखेन प्रवर्तमाना भूतार्थवादिनः कवेर्भारती केवलं नटा विटा रमण्य एव नृपावलोकने इदानीं प्रभवन्तीति असङ्गतिर्विरूपकार्योत्पत्तिं सूचयति। तेन विषमे परिणतिः।

जयदेवस्तु अनेकेषां वस्तूनां परस्परम् अनौचित्यप्रवृत्ते संसर्गे विषमं मनुते। तद्यथा—क्वातितीव्रविषाः सर्पाः क्वासौ चन्दनभूरुहः।

असङ्गतौ येषां संसर्गः काम्यस्तेषां संसर्गो न भवति, विषमे तु येषां संसर्गोऽवाञ्छनीयस्तेषां संसर्गो भवतीति विवेकः। ननु इष्यमाणविरुद्धाप्तिरूपे विषादनेऽस्यान्तर्भावस्तर्हि स्यादिति न, विषादने इष्यमाणविरुद्धार्थस्य प्राप्त्या विषाद एव मुख्यतया व्यज्यते, विषमे तु प्रत्यादेशपरुषता। विषादनं व्यञ्जनया समधिकतरं विशिष्यते, विषमो मुख्यतया वाच्यत्वेन शोभते। मम्मटेन तु—

क्वचिद् यदतिवैधर्म्यान्न श्लेषो घटनामियात्।
कर्तुः क्रियाफलावाप्तिर्नैवानर्थश्च यद् भवेत्।।
गुणक्रियाभ्यां कार्यस्य कारणस्य गुणक्रिये।
क्रमेण च विरुद्धे यत् स एष विषमो मतः।।

(का.प्र. १०।१२६-१२७)

द्वयोरत्यन्तविलक्षणतया यद् अनुपपद्यमानतयैव योगः प्रतीयते, यच्च किञ्चिदारभमाणः कर्ता क्रियायाः प्रणाशान्न केवलमभीष्टं यद् यत् फलं न लभेत, यावदप्रार्थितमप्यनर्थं विषयमासादयेत्, तथा सत्यपि कार्यस्य कारणरूपानुकारे यत्तु तयोर्गुणौ क्रिये च परस्परविरुद्धतां व्रजतः, स समविपर्ययात्मा चतूरूपो विषमः। इति विषमो व्याख्यातः। तत्र द्वितीयः प्रकारः कर्तुः क्रियाफलमनवाप्य अनर्थावाप्तिरिति यदुक्तः स न अस्मत्सम्मतः, इष्यमाणविरुद्धाप्तिरूपे विषादनेऽस्यान्तर्भावात्। अन्यच्च विद्यमानेऽपि वैधर्म्ये द्वयोः पदार्थयोः संसर्गे विषमो भवति। तथैवानेकेषां पदार्थानां संसर्गेऽपि भवितुमर्हतीत्यपि तत्र योज्यम्।

अथ द्वन्द्वम्—

अन्यायनिवारणाय युद्धप्रक्रिया द्वन्द्वम्।।२।६।१०।।

एतच्च द्वन्द्वं मनोगतं, समाजगतं, राष्ट्रगतं, विश्वगतं वेति वस्तुतः सर्वत्र व्याप्तमेव। सरतीति संसारः। कविस्तद्विभावयति। संसारे तावत् सरणं द्वन्द्वात्मकतयैव। तद्यथाहोपनिषद्—स आत्मानं द्वेधाऽपातयदिति।

द्वन्द्वाय द्वैधीभाव आवश्यकः। स यथा कामजनितजगतः स्त्रष्टुः प्रजापतेस्तथैव तु कवयितुर्मानसेऽपि भवति। इदं द्वन्द्वमेव रचनाया अपि मूलम्। आत्मानमेवात्मना पृथक्कृत्य रचना विधीयते। एतच्च द्वन्द्वं पदगतं पदार्थगतं वाक्यार्थगतं प्रकरणगतं वा यदा युगपद् भासते। यथा मम हिमालयल्लहर्याम्—

अमी वृक्षं वृक्षं दृढमिह समालिङ्ग्य सुदृढा
जनास्तद्रक्षायै हिमगिरिसुतास्ते व्यवसिताः।
इमे सन्नद्धा स्वानहमहमिकाभिः परिकरान्
निबध्यारात् कृत्वा परिसर इह व्यूहरचनाम्।।

अत्र वृक्षं वृक्षमित्यावृत्त्या, दृढं सुदृढा इति च क्रियाविशेषण-विशेषणाभ्याम्, हिमालयगतवनस्पतिनिधेः रक्षायै प्रवर्तमानं चिपकोसंज्ञप्तं जनान्दोलनं कविना सूचितम्।

प्रकरणगतं द्वन्द्वं यथा शाकुन्तले शार्ङ्गरवस्य—

कृताभिमर्शामनुमन्यमानः सुतां त्वया नाम मुनिर्विमान्यः।
मुष्टं प्रतिग्राहयता स्वमर्थं पात्रीकृतो दस्युरिवासि येन।।

इत्यादिकथनैः। असमानात् संयोगाद् विरूपकार्योत्पत्तेर्भवति विषमः, न द्वन्द्वे असमानयोरेव युद्धाय सन्नाहः, न च विरूपकार्योत्पत्तिः। न पुनर्विषमे द्वन्द्व इव युयुत्सा इत्यनयोर्विवेकः।

तानवम्—

वैयक्तिके सामूहिके वा चित्ते द्वन्द्वोत्थं कर्षणं तानवम्।।
२।६।११।।

द्वन्द्वेन चेतनायां वैकल्यं जायते। इदमेव वैकल्यं सङ्घर्षाय पौरुषाय वा प्रेरयत् कर्षणमिव चित्ते विदधाति। तदेव तानवम्। आङ्ग्लभाषायां टेंशन इति हिन्द्यां च तनाव इति अभिधीयमानमिदं तानवम् आधुनिकसाहित्ये महीयते; परन्तु पुरातने साहित्ये विशदं महाकविभिरिदं निरूपितम्। यथा उत्तरचरिते—

हा हा देवि स्फुटति हृदयं ध्वंसते देहबन्धः
शून्यं मन्ये जगदविरतज्ज्वालमन्तर्ज्वलामि।
सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा
विष्वङ् मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोमि।।

जिजीविषालङ्कारः प्रच्छन्नमिह सर्वदैव सञ्चरति। अत्रापि 'कथं मन्दभाग्यः करोमि' इति कथनादितिकर्तव्यताया निर्धारणे धीः पर्यवस्यति, न तु नैराश्योपहतत्वे। 'न च रामो न जीवति' इति स्वयं रामस्योक्तेः जिजीविषायाः प्रत्याख्यानं न। अथ च—

दलति हृदयं शोकोद्वेगाद् द्विधा तु न भज्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न निकृन्तति जीवनम्।।

इत्यत्र तानवं नैराश्योपहतं प्रतिभाति; परन्तु प्रकरणविशेषमात्रपर्वसायित्वात् नास्य प्रबन्धव्यापिता। इत्थं वाक्यगतं प्रकरणगतमिव प्रबन्धगतमपि तानवमूह्यम्। तथा हि—उत्तररामचरितस्य प्रथमाङ्के तानवबीजमुप्तम्, आद्वितीयाद् आपञ्चमाङ्कात् तानवं सुदूरं प्रसृतं तत्र। एवमेव शाकुन्तले प्रथमाङ्के तानवबीजमुप्तम्, शकुन्तलायाः 'किं नु खलु जनमिमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयास्मि संवृत्ता' इति कथनात्। द्वितीयतृतीयचतुर्थाङ्केषु इदं प्ररूढम्, पञ्चमाङ्के अङ्कुरितं भवति। तानवेऽङ्कुरायमाणे आशङ्का अनुतापः ग्लानिः असूया चेत्यादयो भावा बोभूयन्ते, तत्पर्यवसाने तु सर्वदा प्रत्याशया भाव्यम्। तथा हि उभयोरनयो रूपकयोरन्तिमाङ्के तानवावसानकाले प्रत्याशा सीतारामयोः शकुन्तलादुष्यन्तयोश्च पुनर्मिलनप्रत्याशा जागर्ति।

इति विरोधमूलकाः षट्। अथ औपम्यमूलकाः—

साम्यपरिकल्पनोपमा।।२।६।१२।।

साधर्म्यमूलकेष्वलङ्कारेषु उपमा इदम्प्रथमतयोदाह्रियते। साधर्म्यमूलेषु सर्वेषु अलङ्कारेषु उपमेयमुपमानं च निरूपणीयमेव। तत्र उपमेयमाधि-

भौतिकमाधिदैविकमाध्यात्मिकं वा, तथैव उपमानमाधिभौतिकमादैविक-माध्यात्मिकं वा इति नव भेदाः। यत्तु समानेन समानस्य साधर्म्य-निरूपणमुपमेति तन्न। वस्तुतस्त्वसदृशयोः सादृश्यस्थापनायामुपमा। तद्यथोक्तवान् यास्केन निरुक्ते उद्धृतो गार्ग्याचार्यः—उपमा अतत् तत्सदृशमिति। उपमाया भेदा अपि गार्ग्याचार्येणेत्थं कीर्तिताः—'तदासां कर्म ज्यायसा वा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाऽप्रख्यातं वा उपमिमीते अथापि कनीयसा ज्यायांसम्'।

उपमायां सादृश्यमुद्धावितं भवति। श्रीमद्भगवद्गीतायां स्थितप्रज्ञमुपमेयीकृत्योक्तम्—

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।

अत्र कूर्मस्तु ज्ञातः, स्थितप्रज्ञस्य विषयेभ्य इन्द्रियसङ्कोचः कीदृश इति तु रहस्यम्। तज्ज्ञापनाय ज्ञातपूर्वोऽपि कूर्म उपमानत्वेन उपात्तः। स्थितप्रज्ञस्य चित्तवृत्तीनां कूर्मस्याङ्गसङ्कोचेन साम्यं न लोकविदितमित्यत्र उद्धावितत्वम्। तथैव भट्टलक्ष्मीधरस्य—

कम्पन्ते कपयो भृशं जडकृशं गोजाविकं ग्लायति
श्वा चुल्लीकुहरोदरं क्षणमपि क्षिप्तोऽपि नैवोज्झति।
शीतार्तिव्यसनातुरः पुनरयं दीनो जनः कूर्मवत्
स्वान्यङ्गानि शरीर एव हि निजे निह्नोतुमाकाङ्क्षति।।

अत्र शीतार्तिव्यसनातुरो जनः कथं स्वान्यङ्गानि स्वीये शरीर एव निवेश्य तिष्ठतीति उपमेयोपमानयोः सादृश्यमुद्धावितम्।

उपमायां हृद्यता च कान्तिमत्ता च स्यादिति अप्पयदीक्षितः। गीतागता कूर्मोपमा हृदयावर्जनं न करोति, न च कान्तिमती तथा प्रतीयते। क्व खलु स्थितप्रज्ञः क्व च दीनो हीनः कूर्मः। अतः केवलमुदाहरणायैव कूर्मस्य तत्र उपमानम् आनीतम्; परन्तु लक्ष्मीधरेण सैवोपमा यथा प्रायोजि, तत्र वरीवर्ति हृद्यता कान्तिमत्ता च। कूर्मोऽप्यात्मरक्षायै स्वान्यङ्गानि स्वीये शरीरे सङ्कोचय्य प्रवेशयति, दीनो निर्धनो जनोऽपि आत्मत्राणाय तथा करोतीति यद्यपि पद्येऽस्मिन्

स्वभावोक्तेर्जातेर्वा साम्राज्यम्; परन्तु उपमया तत्र वैशिष्ट्यमाविष्कृतम्। इत्थं पूर्वप्रचलितोपमानानां प्रयोगोऽपि यदा प्रकरणविशेषान्नवीनतां धारयति तदैव काव्ये उपमालङ्कारः, अन्यथा लौकिकं शास्त्रीयं वा उदाहरणं तत् स्यात्। 'इत्थं लौकिका अपि पदार्था उपमानत्वेन कविप्रतिभया विषयीकृताः सन्दर्भनूतनतया प्रकरणवक्रतया कल्पनाया अनल्पपाटवेन वा कान्तिमत्तां भजन्ते। क्वचित्तु लौकिकोपमानां निषेधपूर्वकमुपमानीयते। तद्यथा भट्टलक्ष्मीधर एव स्वकीये चक्रपाणिविजयमहाकाव्ये बाणासुरमुखात् शिवं स्तुवन्नाह—

उपमा यत्र नास्त्येव यत्र जातिर्न विद्यते।
निर्गुणो निरलङ्कारस्त्वमिव त्वयि मे स्तवः।।

अत्र मदीया त्वां प्रति स्तुतिस्तथैव निर्गुणा निरलङ्कारा च यथा त्वं स्वयमिति ईशं प्रत्युक्तौ उपमां जातिं च निराकृत्य पुनरुपमा उपात्ता।

आधिभौतिकेन आधिदैविकमाध्यात्मिकं वा क्वचिच्च आध्यात्मिकेनाधिदैविकमाधिभौतिकं वा तुलयत्यत्र कविः। उपमेयं शब्दव्यापारदृशा द्विविधा—वाच्या व्यङ्ग्या च। वाच्या तूदाहृतैव उपरिष्टात्। व्यङ्ग्या यथा—

वाहि वात यतः कान्ता स्पृष्ट्वा तां मामपि स्पृश।
त्वयि मे गात्रसंस्पर्शश्चन्द्रे दृष्टिसमागमः।।

इति रामायणे सेतुबन्धमनु उदधितरणानन्तरं त्रिकूटपर्वतस्थितां लङ्कां पश्यतो रामस्येयमुक्तिः। अत्र लङ्कायां क्वचित् स्थितां सम्प्रति सर्वथाऽदृश्यां कान्तां सीतां स्पृष्ट्वा वातः समायातु स्पशतु चानन्तरं माम्, तेन स्पृष्टे मदीये गात्रे चन्द्रे दृष्टिसमागम इव सुखं स्यान्मे इति यदुक्तं तेन सीता चन्द्रसमा, गगनस्थश्चन्द्रश्च यथा न प्राप्यः केवलं तदीया रश्मयः स्प्रष्टुं शक्याः, एवमेव ये वाताः कदाचित् सीतां स्पृष्ट्वा आयान्ति त एव स्प्रष्टुं शक्या इति चन्द्र इव दुर्लभा सीतेत्यपि उपमया साकं द्योत्यते।

मालोपमा, उपमेयोपमा, अमूर्तोपमा इत्यादयो भेदा अस्याः। अस्मन्मतेनेमे अलङ्कारा दीपकेऽन्तर्भवन्ति।

अथ रूपकम्—

आरोपणाद् अध्यवसानाद् अन्यापदेशाद्वा वा रूपकम्।। २।६।१३।।

आधिभौतिके आधिदैविके आध्यात्मिके वा रूपे अन्यस्य रूपस्य आरोपणाद् तस्मिन् वा अन्यस्य अध्यवसायाद् व्यपदिश्य अन्यस्य वा कथनाद् रूपकम्। निगीर्याध्यवसानमूलाया अतिशयोक्तेरन्योक्तेरप्रस्तुतप्रशंसाया वाऽस्मिन्नन्तर्भावः। क्वचिद् वस्तुनो आध्यात्मिकं रूपमाविष्कर्तुमारोपो विधीयते। तथा हि—

पश्य देवस्य काव्यं न ममार न जीर्यति।

इति श्रुतौ। अत्र इदं विश्वमीश्वरेण रचितं काव्यमिति आरोपः, ईश्वरस्य काव्यमेवैतद् वेति अध्यवसायः कविकृतः अस्याधिभौतिकजगत आध्यात्मिकं रूपं साक्षात्कारयति। क्वचित्तु आधिभौतिके वस्तुनि अन्यस्याधिभौतिकवस्तुन आरोपोऽध्यवसानं वा तस्य वास्तविकतां परिचाययितुं विधीयते। तद्यथा मम जनतालहर्याम्—

क्षेत्रे स्वे श्रमबिन्दुचिह्निततनुर्यो वै तपस्तप्यते
तं निर्वास्य दुराग्रहात् स्ववसतेराच्छिद्य भूमिं ततः।
आक्रम्यातिमदादगण्यमिव तं मत्वा जनं निर्भया
विक्रामन्ति च साट्टहासमधुना चञ्चामनुष्या सुखम्।।२०।।

अस्मिंश्च पाश्चात्त्यैः प्रतिपादितस्य प्रतीकतत्त्वस्यान्तर्भावः। प्रतीकलक्षणं यथा—

प्रख्यातवैशिष्ट्येनाप्रस्तुतेन प्रस्तुतस्य प्रातिनिध्यं प्रतीकम्।। २।६।१४।।

प्रस्तुतस्य प्रातिनिध्यं कुर्वदिव यत्र निरूप्यते प्रसिद्धमप्रस्तुतं तत्र प्रतीकं भवति। प्राचीनैरिदमेव क्वचिदन्योक्तिः, क्वचिदन्यापदेश इति कथितम्।

प्रतीकमूलकं रूपकं वाक्यगतं, प्रकरणगतं, प्रबन्धगतं च द्योतते। पञ्चतन्त्रस्य नैकाः कथाः प्रतीकपर्यवसिताः। काकोलूकीये उलूकः

प्रच्छन्नघातरतस्य क्रूरस्य नरस्य प्रतिनिधिः। एवमेव करटकदमनकौ राजनीतिप्रवणयोः धूर्तयोरमात्ययोः प्रतिनिधिभूतौ।

अयं चालङ्कारो विषादेनेन संसृष्टः प्रायः परां प्रभविष्णुतां प्राप्नोति। यथा पण्डितराजस्य—

येनामन्दमरन्दे दलदरविन्दे दिनान्यनायिषत।
कुटजे खलु तेनेहा तेने हा मधुकरेण कथम्।।

मधुकरो रसिकस्य प्रतीकतया अध्यवसितः।

पाश्चात्यकाव्यविचारे प्रथितं बिम्बविधानमिह जात्यलङ्कार इव सर्वथा अपेक्षितम्। बिम्बेन क्वचिज्जातिर्निर्मीयते, क्वचिदतिशय आधीयते, क्वचिदुपमायां क्वचिदन्योक्तौ रूपकादिषु वा बिम्बः पर्यवस्यति, क्वचित्तु बिम्बविधानं प्रतीकायते। यथा दीपशिखाशलभयोर्वृत्तं पारसीक-कवितायाम् उर्दूगजलकाव्ये वा प्रेम्णः पराकाष्ठायाः प्रतीकतां भजते। संस्कृतकाव्येषु शलभः पतङ्गो वा न तथा प्रायशो निरूपितः। अत एव अप्पाशास्त्री दीपशिखां च पतङ्गं चाधिकृत्य अन्योक्तिं प्रयुञ्जानो नवीनबिम्बविन्यासमेव विरचयति—

एषा दीपशिखैव हन्तकलिकामुत्प्रेक्ष्य यां सम्भ्रमा-
दाधातुं परितो भ्रमस्यविरतं भ्रातः पतङ्ग स्वयम्।
स्नेहार्द्रामियमग्रतोऽपि सुदृढं श्लिष्यत्यलं वर्तिकां
भस्मत्वं नयतीति चिन्तय ततः का ते भवित्री गतिः।।

एवमेव कङ्कतिका (हिन्दीभाषायां कंघीति व्यपदिश्यमाना) संस्कृतकवितायाः कृते किमपि अपरामृष्टं नवीनमेव वस्तु। अप्पाशास्त्रिणा इयं तावदुद्बोधिता—

अयि कङ्कतिके वृथा श्रमं कुत एव प्रविधातुमीहसे।
कुटिलो यदयं निसर्गतः सरलः स्यान्न कचः प्रसाधनैः।।

अत्र कापि साध्वी पतिव्रता कुटिलं स्वं पतिं प्रबोधयतीत्यर्थो भवितुमर्हति।

क्वचित्तु पुराणमपि वस्तु नवीनवृत्तसंयोजनेन समाधिगुणं सृजति काव्ये। संस्कृतशास्त्रेषु काव्येषु च घटो बहुधा चर्च्यते। दर्शनप्रस्थाने क्वचिदयं घटो जीवस्य प्रतीकतां गच्छति। भासेन—

'कः कं शक्तो रक्षितुं मृत्युकाले,
रज्जुच्छेदे के घटं धारयन्ति'।।

इति सूक्त्या घटो जीवनस्य नश्वरताया द्योतनाय साधु टीकितः। अप्पाशास्त्री तु घटम् उदकुम्भं वा नवीनेनैव गौरवेण मण्डयति—

उदकुम्भ धन्य एकः क्षितौ त्वमेवेति मामिका बुद्धिः।
यत्पाशितनिजकण्ठो जीवनदानेन तोषयस्यन्यान्।।

अस्यां चान्योक्तौ अप्पाशास्त्री भगतसिंह-राजगुरु-चन्द्रशेखराजादसदृक्षं देशभक्तं मातृभुवे बलिदानरतं समुद्दिश्य समर्पयति घटव्याजेन श्रद्धाञ्जलिम्। यतो हि पाशितनिजकण्ठ इति कथनाद् वैदेशिकशासनप्रदत्तप्राणदण्डः कश्चन एतादृश एव मातृभूमिसेवकः सङ्केत्यते। अत एव बिम्बविधानमिह समकालिकप्रसङ्गेन संवलितं सन्न केवलं नवायते, व्यङ्ग्यगर्भत्वाच्च कारुण्यसृष्टिमपि विदधाति। इमान्युदाहरणानि वाक्यगतप्रतीकस्य बिम्बविधानस्य च समं भवन्ति।

प्रकरणगतं प्रतीकं सविशेषां विच्छित्तिं प्रबन्ध आदधाति। तद्यथा शाकुन्तले—प्रथमाङ्के हरिणस्तपोवनगतसत्त्वस्य मौग्ध्यस्य सुकुमारतायाः, वस्तुतश्च आश्रमसंस्कृतेरेव प्रतीकभूतः। तं हन्तुमिच्छन् मृगयालोलुपो दुष्यन्तो हिंसायाः पुरुषस्य कामनाया नागरसंस्कृतेश्च प्रतीकतां धत्ते। प्रथमाङ्कावसाने आश्रमं सरभसं विशन् गजस्तु कविना स्वयमेव तपोविघ्नस्य प्रतीकभूतत्वेन वर्णितः।

मूर्तो विघ्नस्तपस इव नो भिन्नसारङ्गयूथो
धर्मारण्यं प्रविशति गजः स्यन्दनालोकभीतः।।

अस्मिन् वाक्ये उत्प्रेक्षा समग्रेऽपि प्रकरणे तु प्रतीकम्। एवमेव दुर्वाससः शापस्य आश्रममर्यादाया प्रतीकत्वम्। अङ्गुलीयकं तु पारस्परिक-विश्वासस्य।

उत्प्रेक्षा—

सम्भावनात्मिका कविकल्पनैवोत्प्रेक्षा।।२।६।१५।।

कवेः कल्पना आधिदैविकी सृष्टिः। तस्या अवतरणं यदाऽऽधिभौतिक्यां सृष्टावुत्प्रेक्ष्यते, आधिभौतिक्याः सृष्टेर्वा आधिदैविकतया सम्भावनं विधीयते, तदा उत्प्रेक्षा। अत एव उत्प्रेक्षया कविराधिभौतिकजगत आधिदैविके आरोहणम् आधिदैविकस्य वा तस्मिन्नवतरणं प्रस्तौति।

उपमा मूलत आधिभौतिक एवालङ्कारः, उत्प्रेक्षा चाधिदैविक इति उभयोर्विवेकः। उत्प्रेक्षायाः सम्भावनापरत्वमस्या आधिदैविकमेव स्तरं द्योतयति। तद्यथोक्तं चक्रवर्तिना—

यदायमुपमानांशो लोकतः सिद्धिमृच्छति।
तदोपमैव येनेवशब्दः सादृश्यवाचकः।।

यदा पुनरयं लोकादप्रसिद्धः कविकल्पितः।
तदोत्प्रेक्षैव येनेवशब्दः सम्भावनापरः।।

उपमानस्य लोकात् सिद्धिमपेक्षमाणत्वमुपमाया आधिभौतिकत्वं सूचयति, लोकेऽप्रसिद्धस्य कविकल्पितस्य चोपमानस्य ग्रहणं पुनरुत्प्रेक्षाया आधिदैविकत्वम्। उत्प्रेक्षायामुदुपसर्ग एवास्या आधिभौतिकादुत्थानं द्योतयति।

मम्मटादिभिस्तु प्रकृतस्य उपमेयस्य वा उपमेयेन सम्भावने उत्प्रेक्षा कथिता। सम्भावनं चोत्कटिककोटिकः सन्देहः। उत्प्रेक्षायां न सर्वत्र प्रकृताप्रकृतयोश्चर्चा कण्ठतो भवति। तथा हि—'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' इत्यत्र किं नाम प्रकृतम्, किं वा अप्रकृतम्। व्यापनादि लेपनतया सम्भावितम्। ननु व्यापनमेव प्रकृतं, लेपनं चाप्रकृतमिति चेत्, तन्न। अनयोः क्रियारूपत्वात्। व्यापन-लेपनयोः कतमा क्रिया प्रस्तुता कतमा चाप्रस्तुता इति कविदृशा वक्तुमशक्यम्।

अस्यामुत्प्रेक्षायां ससन्देहभ्रान्तिमतोऽन्तर्भावः।
मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनं वा निश्चयं तथा।।

निश्चप्रचं तथा भाति प्रतिभाति प्रतीयते।
जाने जानामि कलये कल्पयामि वा।।
इत्येवमन्ये तथा शब्दा इवशब्दश्च तादृशः।
सन्देहार्था भ्रमार्थाश्च तथैवात्र प्रयोजिता:।।

पाश्चात्त्यैरियमेव कल्पनेति कथिता। वाक्यगता, प्रकरणगता, प्रबन्धगता चेयं त्रिविधा। शब्दव्यापारदृशा वाच्या व्यङ्ग्येति द्विविधा। वाक्यगता यथा मम—

सद्यः सीरसमाकृष्टा सुरभिं भूरिशश्च भूः।
लावण्यामृतसम्पृक्ता ललनेव विमुञ्चति।।

प्रकरणगता प्रबन्धगता च यथा विक्रमोर्वशीये। विक्रमोर्वशीये आधिभौतिकं जगद् अतिक्रम्य आधिदैविकं गवेषितम्। अत एव तत्र आधिभौतिकजगद् अतिक्रम्य कल्पनायाः सृष्टौ बहुमानः कवेः। तस्माच्च उत्प्रेक्षायाः प्रयोगो भूयसाऽत्र विहितः। प्रस्तावनायामेव अप्सरसां गणः करुणं क्रन्दति आह्वयति च कमपि परित्राणाय सुरपक्षपातिनम्। नायकः पुरूरवा तमाह्वानं 'मत्तानां कुसुमरसेन षट्पदानां, शब्दोऽयं, परभृतनाद एष' इति कल्पयति। अनन्तरं रम्भा तस्मै यथावृत्तं निवेदयन्ती उर्वशीं वर्णयति—'या तपोविशेषशङ्कितस्य सुकुमारं प्रहरणं महेन्द्रस्य, प्रत्यादेशो रूपगर्विताया: श्रियः, श्रीगौर्याः, अलङ्कारः सर्गस्य सा नः प्रियसखी'ति। राजा केशिनो दानवस्य अनुसरणं करोति। अत्र कलासृष्टिं बहु मन्यमानः कविर्नायकमुखेन वेगाकृष्टस्य रथस्य चामरं चित्रारम्भविनिश्चलं मनुते।

अग्रे यान्ति रथस्य रेणुपदवीं चूर्णीभवन्तो घना-
श्चक्रभ्रान्तिररान्तरेषु वितनोत्यन्यामिवारावलीम्।
चित्रारम्भविनिश्चलं हरिशिरस्यायामवच्चामरं
यन्मध्ये समवस्थितो ध्वजपटः प्रान्ते च वेगानिलात्।। (१.५)

चक्रस्य भ्रान्तिरन्याया अरावल्या भ्रममुत्पादयतीत्यपि उत्प्रेक्षैव। पुनश्च ध्वजपटश्चित्रारम्भविनिश्चलं भातीति नायकस्य तन्मुखेन कवेश्चोत्प्रेक्षा। रथो भौतिकपदार्थः। तस्य कृते उपमानं गवेषितं कलारचनायाः।

केशिदानवापहृता उर्वशी राज्ञा रक्षिता मूर्च्छां शनैः शनैर्जहाति। कविस्तस्याश्छविमित्थमुत्प्रेक्षते—

आविर्भूते शशिनि तमसा मुच्यमानेव रात्रि-
नैंशस्यार्चिर्हुतभुज इव च्छिन्नभूयिष्ठधूमा।
मोहेनान्तर्वरतनुरियं लक्ष्यते मुक्तकल्पा
गङ्गारोधःपतनकलुषा गृह्णतीव प्रसादम्॥ (१.९)

अत्र उत्प्रेक्षते नायकः, तन्मुखेनोत्प्रेक्षते कविश्च। उत्प्रेक्षासु कविकल्पनायाश्चमत्कारो लसति। उपमानानि आधिभौतिकजगतः सीमानमतिक्रामन्ति, आरोहन्ति आधिदैविकं जगत्। इत्थं समग्रेऽपि विक्रमोर्वशीये उत्प्रेक्षायाश्छटा भाति, सकलमेव रूपकं वस्तुत उत्प्रेक्षा कवेः। मालविकाग्निमित्रे उपमानानि आधिभौतिकजगतः सीम्नि बद्धानि। अत्र तान्येव अतिक्रामन्ति आधिभौतिकीं सत्ताम्। अत एव नायिका हुतभुजोऽर्चिरिव निर्मला जाह्नवीव वा जायते। केशिनं निर्जित्य राजा उर्वशीमाश्वासयति—'तदेतदुन्मीलय चक्षुरायतं, निशावसाने नलिनीव पङ्कजम्' इति। अनन्तरं च तस्या रूपच्छटां दर्शं दर्शं राजा विकल्पयति—

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः॥ (१.१०)

उर्वशी 'समदुःखगतं प्रणयिजनं लोचनाभ्यां पिबति'। रथसंक्षोभान्नायकस्य यदङ्गं उर्वश्या अङ्गेन स्पृष्टं तत् 'सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजेनेव' प्रतिभाति। उर्वश्याः सखीभिर्मिलनं लताभिर्वासन्तिक्याः श्रियः समागमं मनुते नायकः (१।१४)। चित्ररथस्य आगमनं तडित्वतस्तोयदस्य गगनादवतरणं (१।१५) प्रतीयते। सूतो नायकस्यास्त्रसंहारं वर्णयति—'प्रक्षिप्य दैत्यान् लवणाम्बुराशौ, वायव्यमस्त्रं शरधिं पुनस्ते महोरगः श्वभ्रमिव प्रविष्टम्'।

दक्षिणानिलो 'माधवीं लक्ष्मीं निषिञ्चन्, कौन्दीं च लतां लासयन् स्नेहदाक्षिण्ययोर्योगात् कामीव प्रतिभाति' (२।४)। उद्याने गमनं स्रोतसेवोह्यमानस्य प्रतीपतरणं भवति। उद्याने च 'ईषद्बद्धरजः-कणाग्रकपिशाम् आम्रमञ्जरीं मुग्धत्वस्य यौवनस्य च मध्ये स्थितां मधुश्रियं मनुते राजा। उर्वश्यास्तुल्यानुरागपिशुनं ललितार्थबन्धं मनोऽभिप्रायं पत्रे निवेशितं 'तस्याः समागतमिवाननमाननेन' जायते।

अन्यत्रापि कविना उर्वशीचित्रलेखे गङ्गायमुनाभ्यां तुलिते (२।१४)। रथसङ्क्षोभादुर्वश्या अङ्गेन स्पृष्टाङ्गः पुरूरवा सरोमकण्टकमङ्कुरितं मनसिजमनुभवति (१।१३)।

अत्र मनसिजशब्दप्रयोगो मानसिकस्तरं काव्यस्य प्रगुणयति भौतिकजगदतिरिच्य। उर्वश्या नैसर्गिकं रूपं भौतिकीं प्रसाधनसामग्रीं प्रत्याचष्ट—

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।। (२.३)

उर्वश्याः कृते न तन्मानसे शारीरिकमाकर्षणमेव केवलमपि तु मानसीं रुक् तं दृढतरं बाधते। अत एव स आह—

नितान्तकठिनां रुजं मम न वेद सा मानसीम्। (२.११)

मालविकाग्निमित्रे अपह्नुत्या आधिभौतिकं जगत् परामृष्टं निषिद्धमपि। विक्रमोर्वशीयेऽपि मध्ये मध्ये अपह्नुतिर्विजृम्भते। देवी काशिराजकन्या आधिभौतिकमेव जगत् प्रतिनिधीकृत्य इह पात्रीयति। राजा तस्याः प्रणिपातलङ्घनात् तुष्टस्तां निषिद्ध्य उर्वशीमनुसरति।

प्रियवचनकृतोऽपि योषितां दयितजनानुनयो रसादृते।
प्रविशति हृदयं न तद्विदां मणिरिव कृत्रिमरागयोजितः।। (२।२१)

तृतीयाङ्कः सम्प्राप्ते सान्ध्यकाले प्रारभ्यते। निशानिद्रालसा बर्हिणो वासयष्टिसूत्कीर्णा इव भान्ति। जालविनिःसृतैर्धूपैर्वलभयः सन्दिग्ध-पारावता भवन्ति (३।२)। उदयगूढशशाङ्कमरीचिभिस्तमसि दूरतरं

प्रतिसारिते पूर्वदिशो मुखमलकसंयमनादिव लोचनहारि जायते। ततश्च तनुते प्रसारं नायकस्य मनोराज्यम्—

गूढा नूपुरशब्दमात्रमपि मे कान्तं श्रुतौ पातयेत्
पश्चादेत्य शनैः कराम्बुजवृते कुर्वीत वा लोचने।
हर्म्येऽस्मिन्नवतीर्य साध्वसवशान्मन्दायमाना बलाद्
आनीयेत पदात् पदं चतुरया सख्या ममोपान्तिकम्।। (३।१५)

प्रेम्णि वस्तूनां विशिष्टं रूपं समुन्मीलति। अत एव राजा सङ्गमनीयं मणिं बहु मन्यते। नायं तस्य कृते मणिमात्रभूतः, प्रियासमागम-हेतुत्वादमूल्यतां गतः। पञ्चमाङ्के नारदस्यावतरणं पुनरपि आधिदैविकस्य संसारस्य आधिभौतिकेऽवतरणम्।

हैमप्ररोह इव जङ्गमकल्पवृक्षः। (५।१९)

अन्ततश्च देवानां मनुष्याणां चान्तःसम्बन्धं निरूपयन् कविः सर्वथाऽऽधिदैविकं रूपं स्वरचनायाः साधयति—

त्वत्कार्यं वासवः कुर्यात् त्वं च तस्येष्टमाचरेः।
सूर्यः समेधयत्यग्निमग्निः सूर्यं स्वतेजसा।। (५.२०)

इति नारदमुखेन मनुष्यान् सन्दिशन् चरितार्थयँश्च तत् पुरूरवसश्चरित्रेण। उर्वशी अत्र दिव्याङ्गना। तस्या अधिधरित्रीमवतरणमाधिदैविकसृष्टेः सङ्गम आधिभौतिकजगता। दिव्याङ्गनाऽपि मनुष्येण सङ्गमे मनुजसन्ततेर्मातृत्वे आत्मानं धन्यां मनुते। भरतवाक्यमपि आशंसामूलकमुत्प्रेक्षैव—

परस्परविरोधिन्योरेकसंश्रयदुर्लभम्।
सङ्गतं श्रीसरस्वत्योर्भूतयेऽस्तु सदा सताम्।।

अथ दीपकम्—

दीपनाद् दीपकम्।।२।६।१६।।

दीपनं चात्र क्रियते युगपन्नानाऽभिप्रायाणामर्थानां शब्दानां च। तद्यथोक्तं भरतमुनिना नाट्यशास्त्रे—

नानाधिकरणार्थानां शब्दानां सम्प्रदीपकम्।
एकवाक्येन संयुक्तं तद्दीपकमुच्यते।। (ना.शा., १६।५३)

न चेदं दीपकं सर्वत्र उपमागर्भितमिति नियमः कर्तुं शक्यते। यथा मम—

विचलति वेल्लति भवति च मनः सहसा किमु सोत्कम्।
रेखामात्रमपि क्षुण्णं नो जायते किमर्थं मे।।

अत्र मनसः कृते आख्यातत्रयं प्रायोजि, न तत्राप्रस्तुतं किमपि सूचितम्। मम्मटेनापि (का.प्र.१०।१७) बहूनां प्रकृतानामप्रकृतानामेव वा धर्मस्य सकृद् वृत्तौ सत्याम्, एकस्य कारकस्य बह्वीषु क्रियासु वा अन्वितौ सत्याम् इति द्विविधं दीपकं यदुदाहृतं, न तत्र औपम्यमूलकताया नान्तरीयकता। अत एव दीपके क्वचित् स्यादुपमायाः प्रतीतिर्नापि वा स्यात्, तथा हि मम्मटेनैव दीपकस्य भेदयोरुदाहरणतया इमे पद्ये उद्धृते—

किवणाणं धणं णाआणं फणमणी केशराइँ सीहाणं।
कुलवालिआणं थणआ कुत्तो छिप्पन्ति अमुआणम्।।

स्विद्यति कूणति वेल्लति विचलति निमिषति विलोकयति तिर्यक्।
अन्तर्नदति चुम्बितुमिच्छति नवपरिणता वधूः शयने।।

अत्र प्रथमपद्ये कृपणधन-फणमणि-सिंहकेसर-कुलबालिकास्तनानां जीवत्सु तद्धारकेषु अस्पृश्यता सामान्यो धर्म उक्तः, तेन चोपमा व्यङ्ग्या। द्वितीये पद्ये तु नवपरिणताया वध्वाः कृते बह्वीषु क्रियासु उक्तास्वपि नोपमानं किमपि सूचितम्। अतो नोपमाया लेशोऽपीह।

अत्र शब्दानां सम्प्रदीपकमिति कथनात् काव्यगताभिप्रायस्यापि सम्प्रदीपकत्वमन्ववसितम्। एकवाक्येनेति कथनाद् एकवाक्यता ज्ञाप्यते, नानाधिकरणार्थामिति मुनिना तत्रैव कथनात्। न तु सर्वदा एकमेव वाक्यं दीपके स्यादिति नियमः। तेन समग्रमपि प्रबन्धं प्रकरणविशेषं वा वाक्योच्चयेन दीपयति दीपकालङ्कार इति ज्ञेयम्।

एकस्य उपमेयस्य कृते अनेकेषामुपमानानामुपमेयोपमानयोर्विपर्यासेऽपि वा दीपकमेव। तद्यथा—

तस्य सन्दिदहे बुद्धिस्तथा सीतां निरीक्ष्य च।
आम्नायानामयोगेन विद्यां प्रशिथिलामिव।।

दुःखेन बुबुधे सीतां हनूमाननलङ्कृताम्।
संस्कारेण यथा हीनां वाचमर्थान्तरं गताम्।।

दीपनं च प्रकाशधर्मः। तेनाज्ञातज्ञापकत्वमप्यत्र ऊह्यम्। दीपनं प्रतिभाया धर्मः। प्रतिभा स्वप्रकाशकत्वाद् बहूनां पदार्थानामेकं व्यापारं पश्यति, बहूनां व्यापाराणां वा एकस्मिन् पदार्थे अन्विर्तिं निर्दिशति। भवति चात्र श्लोकः—

सन्धानं च विमर्शं च दीपनं प्रज्ञया तथा।
आलोकेनानुभवतो दीपके कविभावकौ।।

काव्यमेकस्य कारकस्य कृते बह्वीनां क्रियाणाम्, एकस्याः क्रियायाः कृते बहूनां कारकाणाम्, एकस्य विशेष्यस्य कृते साभिप्रायानां बहूनां विशेषणानाम्, एकस्य उपमानस्य कृते बहूनां वोपमानानां प्रयोगेण यदा दीप्तिं याति तदा दीपकम्। अस्मिन्नेव अन्तर्भवन्ति प्राचीनैरुदाहृता मालोपमा-रशनोपमा-मालारूपक-परिकर-प्रभृतयोऽलङ्काराः। दीप्तेः सामान्यलक्षणे सति—

शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी
सरो विगतवारिजं मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गणगतः खलो मनसि सप्तशल्यानि मे।।

एवमेवानन्दवर्धनेन ध्वन्यालोके (३।४० इत्यत्र वृत्तौ) प्रदत्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यास्मिन्नुदाहरणेऽपि अतिशयानुप्राणितो दीपक एव—

राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपभुञ्जते।
रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः।।

क्वचित्तु बहूनि पदानि सम्भूय विशेषणधर्मेण विशेष्यं दीपयन्ति। यथा भर्तृहरेः—

अभिमतमहामानग्रन्थिप्रभेदपटीयसी
गुरुतरगुणग्रामाम्भोजस्फुटोज्ज्वलचन्द्रिका।
विपुलविलसल्लज्जावल्लीविदारकुठारिका
जठरपिटरी दुष्पूरेयं करोति विडम्बनाम्।।

अन्वितेः सन्धानं दीपके भवति। तेन एकवाक्यताया आविष्काराद् दीपकप्रयोगेण एकमेव पद्यं महावाक्यायते।

क्षुत्क्षामस्तनयो वधूः परगृहप्रेष्यावसन्नः सुहृद्
दुग्धा गौरशनाद्यभावविवशा हम्बारवोद्गारिणी।
निष्पथ्यो पितरावदूरमरणौ स्वामीद्विषन्निर्जितो
दृष्टा येन परं न तस्य निरये प्राप्तव्यमस्त्यप्रियम्।।

अत्र प्रत्येकं वस्तु जीवनस्य नाना अवस्था उपस्थापयति। तेन मनुष्यजीवनस्य जगतश्च विविधदिक्कालावच्छिन्ना भावा एकस्मिन् फलके आनीताः। इति औपम्यमूलका अलङ्काराः।

वृत्तिमूलकालङ्कारनिरूपणम्—

वृत्तिमूलका अलङ्काराः प्राधान्येन वृत्तिं पदविन्यासं वर्णविन्यासं च श्रयन्ते। ते च षट्। तेषु प्रथमं नादानुवृत्तिः—

वर्ण्यानुरूपो नादविन्यासो नादानुवृत्तिः।।२।६।१७।।

छन्दोभिर्लयेन शब्दानां नादेन च वर्ण्यविषयस्य अनुवृत्तिः अनुरूपा पदरचना वर्णसङ्घटना च नादानुवृत्तिः।

शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाश्चेति पञ्चमहाभूतानां तन्मात्राः। एतासु समस्तमाधिभौतिकजगद् विश्रान्तम्। काव्यस्य पाठे वर्ण्यविषयस्य यः शब्दो ध्वनिर्वा तदनुरूपो यदि नादोऽनुभूयेत, तर्हि प्रथमो भेदः। एवमेव स्पर्शानुरूपे द्वितीयः, रूपानुरूपे तृतीयः, रसानुरूपे चतुर्थः, गन्धानुरूपे च पञ्चमः। तत्र प्रथमो यथा माघस्य—

मधुरया मधुबोधितमाधवी मधुसमृद्धिसमेधितमेधया।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृतानिभृताक्षरमुज्जगे।।

द्वितीयो यथा भवभूतेः—

विनिश्चेतुं शक्यो न सुखमिति वा दुःखमिति वा
प्रमोहो निद्रा वा किमु विषविसर्पः किमु मदः।
तव स्पर्शे स्पर्शे मम हि परिमूढेन्द्रियगणो
विकारः कोऽप्यन्तर्जडयति च तापं च कुरुते।।

अत्र रामेण क्रियमाणां सीतायाः स्पर्शानुभूतिं शब्दानां विन्यासविशेषेण कविः साक्षात्कारयति। अत्र किमु विषविसर्पः किमु मदः, तव स्पर्शे स्पर्शे इति वर्णविन्यासविशेषो विषस्य प्रसारं स्पर्शविशेषानुभूतिं च भावयति। यथा वा विश्वनाथेनोदाहृते—'मरुन्मन्दं मन्दं किरति मकरन्दं दिशि दिशि' इत्यत्र समीरस्य सरणं तत्स्पर्शश्च काव्यपाठेनापि साक्षादिव अनुभूयते।

क्वचित्तु शब्दस्य नादोऽभिधयाऽनुक्तमपि स्पर्शविशेषं व्यनक्ति। यथा 'मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु' इति अभिज्ञानशाकुन्तले दुष्यन्तस्य कथने 'चुम्बितं तु' इत्यत्र चुम्बितपदस्य तु इति निपातस्य च ध्वनिर्नादो वा जिह्वाग्रेण वर्त्स्यमूलस्पर्शोत्थम् अनुतापव्यञ्जकं ध्वनिं नादं वा व्यनक्ति।

रूपानुभवो यथा—इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयोरित्यादि-कथनेषु उत्तरचरितगतेषु। तत्र प्राधान्येन प्रेमालङ्कारः, अमृतवर्तिर्नयनयोरित्यादिकथनेन सीताया अनुपमकमनीयताया शब्दानां लयैः प्रत्ययो जायत इति रूपनादानुवृत्तिरपि। रसस्य नादानुवृत्तिर्यथा—

प्लावयन्ती च जिह्वामपूर्वैं रसैः।

पञ्चमो गन्धनादानुवृत्तिर्यथा मम प्रावृड्लहर्याम्—

सद्यः सीरसमुत्कृष्टा सुरभिं भूरिशश्च भूः।
लावण्यामृतसम्पृक्ता ललनेव विमुञ्चति।।

अत्र सकारस्य लकारस्य चावृत्त्या जनितो नादः सीरसमुत्कृष्टाया धराया उद्गतं लवणमयसौरभमनुहरति।

नास्यालङ्कारस्यानुप्रासेऽन्तर्भाव इति मन्तव्यम्, अनुप्रासस्यैव प्रत्युतास्मिन्नन्तर्भावः।

क्वचित्तु वर्ण्यविषयस्य शब्दस्पर्शरूपरसान् समन्वितं नादेनानुहरति काव्यम्। यथा मम प्रावृड्लहर्याम्—

स्फूर्जथुर्जृम्भते तूर्णं पृथ्वी थरथरायते।
मघोनो वज्रनिर्घोषैर्विद्योतित इरम्मदे।।

तारस्वरेण तरसा तडित् तडतडायिता।
दीर्यमाणा च घोषेण प्रचस्खालेव मेदिनी।।

क्वचिद् गेहे सुखं सुप्तः स्वप्ने शुभ्रं स्मितं किरन्।
प्रकम्पितो हतस्वप्नश्चक्रन्दासौ स्तनन्धयः।।

रुदन्तं तं समागत्य चुचुत्कारैरसान्त्वयत्।
जननी तस्य सस्नेहमस्वापयच्च तं पुनः।।

अत्र जृम्भते, थरथरायते, तडित् तडतडायिता, प्रचस्खाल, चुचुत्कारैरित्यादिपदानां प्रयोगेन वर्षर्तोर्विविधान् शब्दान्, स्पर्शान्, रूपाणि, रसान्, गन्धाँश्च काव्यगतनिनादोऽनुहरति।

क्वचिच्चौज्ज्वल्यं मालिन्यं च युगपत् पदशैया प्रकटयति तत्रापि नादानुवृत्तेरानुगुण्यम्। यथा खिस्तेबटुकनाथशास्त्रिणो गङ्गास्तुतौ—

सिताऽपि हसितास्पदं भवति नीरसं क्षीर-
मप्युदेति जनसाक्षिकं हतगुणं पुनर्माक्षिकम्।
सुधारसमुधाकृतिक्षममहो त्वदीयं पयः
प्रदूषितमिति प्रथा व्यथयतीव नः साम्प्रतम्।।

अत्र रूपस्य उज्ज्वलता, रसस्य माधुर्यञ्च यथा सकार-रकारानुवृत्त्या प्रकटीकृतम्, तथैव दकारषकारानुवृत्त्या दूषितत्वम्।

इयं च नादानुवृत्तिर्यावदर्थं पोषयति तावत्येव ग्राह्या। स्वात्ममात्रपर्यवसायिनी तु हन्ति काव्यास्यालङ्कारं सौन्दर्यं वा। यथा ममैव प्रावृड्लहर्याम्—

वृष्ट्या सृष्ट्या च कृष्ट्या च धरित्री किल जीवति।

अत्र केवलं षकारटकारयोरावृत्तिः धरित्रीजीवनोचितं लयं वा नादानुवृत्तिं वा न निर्मिमीते। यथा वा पुनर्ममैव स्तवमालेति कवितायाम्—

जटाधीश हठाधीश मठाधीश नमोऽस्तु ते।

उभयत्र निरर्थकां चमत्कृतिमाधातुमनुप्रासाडम्बरः सयत्नं साधितः।

नादानुवृत्त्या नादमूलका बिम्बा आविष्क्रियन्ते काव्ये। क्वचित् शब्दा वर्णविन्यासस्य नादमनुहरन्ति। तेन नादात्मकानां बिम्बानां निर्माणं जायते। नादात्मकमस्ति जगत्। नादेन सृष्टिर्भवति। नृत्तावसाने नटराजराजो ढक्कां ननाद, तेन निखिलं व्याकरणशास्त्रं समुद्भूतम्। कविर्बटुकनाथशास्त्री खिस्ते मुजीबमुक्तिवाहिनीं बाङ्गलादेशस्वाधीनतासङ्ग्रामं च साधु वर्णयामास। तत्रासावाह—

उद्वेल्लत्सिन्धुवेला तरलकरतलोन्मुक्तमुक्तासहस्र-
प्रत्यग्राभ्यर्चनाभिर्विगलितचरणे चेतने चेतयाशु।
बाहुस्तम्भावलम्बात् तव वसतु पुनर्बाङ्गलाशौर्यलक्ष्मी-
र्ढक्कानादेन ढक्कानगरविरचितोत्तुङ्गसौधासनेषु।।

(कविभारतीकुसुमाञ्जलौ, पञ्चमे भागे, पृ. २८)

क्वचित् शिवताण्डवावसाने ढक्का निनाद्यते, क्वचिद् आततायिनां संहाराय विहितस्य सङ्ग्रामस्यावसाने। अत्र ढक्काया नादात्मको बिम्बः शब्दैरनुरणनं विधाय कविना कर्णगोचरतां नीतः।

अथ यमकम्—

एकस्य पदस्य अर्थभेदेन असकृत् प्रयोगो यमकम्।। २।६।१८।।

तच्च अलङ्कारान्तरसंसृष्टमलङ्कारान्तरेण साङ्कर्यं वा प्राप्तं पुष्णाति काव्ये शोभाम्, अन्यथा तु गात्रे श्वित्रमिवाशोभनं भवेत्। उदाहरणं यथा मम नर्मदालहर्याम्—

नानाऽऽधिभिर्बहुविधं च तथा ततोऽहं
सङ्केतहीनमिव पत्रमितस्ततोऽटन्।
सङ्केतमेव च तव प्रतिपालयामि
भ्राम्यन् भ्रमाकुलजगत्यतिखिन्न एषः।।

व्यर्थप्रसक्तबहुपत्रभरे किलेदं
निष्पत्रवृक्ष इव याति च जीवितं मे।
कार्यालयान्तरगते वितते्ऽत्र कृत्ये
कृत्यावरोधजनके जननीं विना त्वाम्।।४९।।

अत्र सङ्केतशब्दस्य भिन्नयोरर्थयोर्द्विः प्रयोगस्तेनाविष्कृतं यमकम् उपमाया सौन्दर्यवर्धकं जायते। एवमेव च द्वितीये पद्येऽपि पत्र-कृत्ययोरित्थं प्रयोगः।

एकस्य पदस्य अनेकेष्वर्थेषु ग्रहणं श्लेषः।।२।६।१९।।

स च सर्वदैव अलङ्कारान्तरपरसंसृष्टोऽलङ्कारान्तरप्रतिभोत्पत्तिहेतुर्वा स्यात्। केवलं श्लेषप्रदर्शनार्थं श्लेषस्योपादानं तु काव्यत्वक्षतिकारकम्। यत्तूक्तमुद्भटेन—अर्थभेदेन शब्दा भिद्यन्त इति (काव्यालङ्कारसारलघुवृत्तौ, पृ. ६३) तन्न। यः गो-शब्दः पशुविशेषवाचकः, स एव किरणवाचकः, स एव च वाणीवाचकः। गोत्वजातिविशिष्टः पशुरेव ऋषिभिः क्वचिद् आधिदैविकलोके किरणरूपेण अन्यत्र वाण्या रूपेण वा साक्षात्कृतः। य एव करशब्दः हस्तवाचकः स एव किरणवाचकः, यौ हस्तौ तावेव नरस्य कृते प्रकाशकौ किरणौ। उदाहरणं यथा वाल्मीकेः—

चञ्चच्चन्द्रकरस्पर्शहर्षोन्मीलिततारका।
अहो रागवती सन्ध्या जहाति स्वयमम्बरम्।।

अत्र कर-तारका-रागाम्बरेषु श्लेषः। प्रेमा आह्लादालङ्कारश्चापि विलसतः। यथा वा मम—

आतपस्य स्वर्णराशिं सहस्रैः स्वैः करै रविः।
वितरत्यादिनान्तं स च्छत्तीसगढजङ्गले।।

शाखाबाहून् समुत्थाप्य तं च गृह्णन्ति पादपाः।
अहम्पूर्विकया चैते प्रलुब्धा इव याचकाः।।

पल्लवाङ्गुलिविस्रस्तं पतितं तं क्वचित् क्वचित्।
धरा बध्नाति साऽत्यल्पं सुवर्णकणमञ्चले।।

अत्र करशब्दस्य द्व्यर्थकप्रयोगेण श्लेषः। आतपच्छेदेषु हिरण्यारोपाद् रूपकम्। सूर्ये दानशीलस्य नायकस्य व्यवहारसमारोपात् समासोक्तिरपि। द्वितीये तृतीये च पद्ये शाखासु बाहूनाम्, पल्लवेष्वङ्गुलीनां चारोपेण रूपकम्, वृक्षेषु याचकैरुपमितेषु उपमा च। छत्तीसगढस्य गहनवनेषु वृक्षाणां सघनत्वात् स्वल्प एवातपो धरायां पतति तेन वृक्षाणां सघनता द्योतत इति अर्थशक्त्युत्थे अलङ्कारेण वस्तुव्यञ्जना। धरा अत्यल्पं सुवर्णकणं वस्त्राञ्चले बध्नन्ती कृपणा स्त्रीवेति वस्तुव्यङ्ग्योपमाऽपि।

अथ लयः—

वर्ण्यविषयानुरूपो गति-यति-पद-वाक्यादिविन्यासो लयः।।
२।६।२०।।

विश्रान्तिर्लीनत्वं वा लयः।

गति-यति-विन्यासेन छन्दो निर्मीयते पद्ये वा गद्ये वा। छन्दःसु कानिचिन्निर्धारितवर्णानुक्रमाणि, तद्यथा—युद्धोद्योगे इन्द्रवज्रा, शृङ्गारे कोमलभावेषु शिखरिणी, प्रावट्-प्रवासव्यसने मन्दाक्रान्ता, वसन्तादिवर्णने वसन्ततिलका, ओजोयुक्तेषु भावेषु शार्दूलविक्रीडितम्। प्रत्येकं छन्दो भवति विशिष्टलयान्वितम्।

क्वचित्तु अर्थापेक्षया पदविन्यासेन वाक्यविन्यासेनापि लयो निर्मीयते। तद्यथा सुभाषितरत्नाकर उद्धृते राजशेखरस्यास्मिन् पद्ये—

अध्वश्रमाय चरणौ विरहाय दारा अभ्यर्थनाय वचनं च वपुर्जरायै।
एतानि मे विदधतस्तव सर्वदैव धातस्त्रपा न यदि किं न परिश्रमोऽपि।।

अत्र प्रथमार्धे अर्थापेक्षया चतुर्थ्यां विभक्तौ सर्वाणि पदानि न्यस्तानि। उत्तरार्धे तु धातारमुपालभते दीनो हीनो वृद्धो जीवनगतक्लेशानसहमानः। अतः प्रथमार्ध एव अर्थापेक्षया पदविन्यासजन्यो लयः काम्यः।

वाक्यविन्यासजन्यो लयो यथा—

'क्रमेण च कृतं मे वपुषि वसन्त इव मधुमासेन, मधुमास इव नवपल्लवेन, नवपल्लव इव पुष्पेण, पुष्प इव भ्रमरेण, भ्रमर इव मदेन, नवयौवनेन पदम्।'

अत्र सप्तम्यन्तैस्तृतीयान्तैश्च पदैः पदविन्यासजन्योऽपि लयविशेषो यद्यपि विनिर्मितः कुशलेन कविना, तथापि स वाक्यविशेषविन्यासान्तर्वर्ती शोभते।

लयस्तु पद्ये तथैव गद्येऽपि सामान्यम्। वामनेन गद्यं द्विविधं प्रोक्तम्—वृत्तगन्धि, चूर्णमुत्कलिकाप्रायञ्च। (काव्यालङ्कारसूत्रे-१।३।२२)। वृत्तगन्धि तावत् पद्यभागवद् भवति। चूर्णे पदानि विभज्य कणश इव कृतानि विन्यस्यन्ते। उत्कलिकाप्रायमधिकृत्याह रत्नदर्पणकारः—उत्कलिका कल्लोलस्तत्प्रायत्वम्, उच्चावचमिव भासमानम्। सर्वत्र गतियत्योरनुरूपः प्रयोगः। गतयस्तु द्रुता, विलम्बिता, मध्या, द्रुतविलम्बिता, द्रुतमध्या, मध्यविलम्बिता च। औत्सुक्ये कौतुकालङ्कारे आह्लादेऽपि द्रुता उपयुज्यते। तद्यथा—अवनमति च विनयनमितवपुषि भयचकितमनसि चलनशिथिलमणिकनकमुकुट.—इत्यादिहर्षचरितगते गद्यबन्धे द्रुता। विस्तारे साक्ष्यालङ्कारे वा विलम्बिता। तद्यथा—मेघालम्बितमौलिनीलशिखराः क्षोणीभृतो दक्षिणा इति भवभूतिकृते दण्डकवर्णने दीर्घवर्णप्रयोगेण साधु साधिता विलम्बिता गतिः। मध्या यथा तत्रैव—एते ते कुहरेषु गद्गदनदद्गोदावरीवारय इत्यादि। द्रुतविलम्बिता यथा शाकुन्तले प्रत्याख्यातां शकुन्तलां प्रति शार्ङ्गरवस्योक्तौ—

यदि यथा वदति क्षितिपस्तथा
त्वमसि किं पितुरुत्कुलया त्वया।
अथ तु वेत्सि शुचिव्रतमात्मनः
पतिकुले तव दास्यमपि क्षमम्।।

इत्यत्र एकत्र शुकन्तलां विहाय गमनाय त्वरा, शकुन्तलाया प्रबोधाय च स्थिरत्वमिति द्रुतविलम्बितप्रयोगः साधीयान्।

द्रुतमध्या च यथा—

ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः।।

मध्यविलम्बिता यथा—

तं सन्तः श्रोतुमर्हन्ति सदसद्व्यक्तिहेतवः।
हेम्नः संलक्ष्यते ह्यग्नौ विशुद्धिः श्यामिकाऽपि वा।।

अनुष्टुप् सर्वासु गतिषु युज्यते। शार्दूलविक्रीडिते पञ्चचामरे च द्रुता गतिः। मन्दाक्रान्तायां द्रुतविलम्बिते च द्रुतविलम्बिता, शिखरिण्यां विलम्बितैव। यतिस्तु विरामः।

लयेन पाठगुणाः प्रादुर्भवन्ति काव्ये। ते च राजशेखरेणेत्थं कीर्तिताः—

गम्भीरत्वमनैश्वर्यं निर्व्यूढिस्तारमन्द्रयोः।
संयुक्तवर्णलावण्यमिति पाठगुणाः स्मृताः।।

(काव्यमीमांसा, सप्तमेऽध्याये)

अस्मिंश्च लयालङ्कारे वामनप्रतिपादिताः शब्दगुणा अन्तर्भवन्ति। लयविशेषप्रयोगादेव गाढबन्धत्वम् (ओजः), शैथिल्यम् (प्रसादः), मसृणत्वम् (श्लेषः), मार्गाभेदः (समता), आरोहावरोहक्रमः (समाधिः), पृथक्पदत्वम् (माधुर्यम्), अजरठत्वम् (सौकुमार्यम्), बन्धस्य औज्ज्वल्यम् (कान्तिः) इति गुणा आविर्भवन्ति। श्लोकौ चात्र भवतः—

अलङ्कारव्यतिकरे विमर्दे विविधाश्रये।
काव्यं याति परां काष्ठां सम्भेदे सम्प्लवे तथा।।

अलङ्कारा यदा याता अन्योन्यस्पृहणीयताम्।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो यात्यसौ चरितार्थताम्।।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे द्वितीयेऽधिकरणे बाह्यालङ्कारनिरूपणं नाम षष्ठोऽध्यायः ।।

●

अथ तृतीयमधिकरणम्

।। काव्यविशेषविमर्शः ।।

द्विविधं तत्—पाठ्यं दृश्यं च।।३।१।१।।

काव्यं तावन्मुख्यतो द्विविधम्—पाठ्यं च दृश्यं च। तत्र यदिह पाठ्यमिति व्यपदिष्टं तत् प्राचीनैः श्रव्यमिति प्रतिपादितम्। यस्मिन् काले कवयः सदसि समाजे वा स्वकाव्यं पाठं पाठं श्रावयन्ति, सहृदयाश्च श्रावं श्रावं काव्यार्थं भावयन्ति स्म, तस्मिन् काले श्रव्यकाव्यमिति नाम अन्वर्थमासीत्। सम्प्रति साहित्यस्य श्रवणं न तथा प्रचलितं, यथा मुद्रितैः पुस्तकैस्तस्य पाठः। अतः पाठ्यमिति संज्ञैवोचिता। ननु गजलगीतानि नवगीतानि वा प्रायः कविगोष्ठीसु श्रावं श्रावमेव समधिकतरं भाव्यन्ते, अतः कुतो वा श्रव्यकाव्यमित्येव सर्वं तत् कथ्येत, इति न। गजलगीतानां नवगीतानां वाऽपि पाठेनैव कविकृतेन जायते भावना, पाठ एव न स्यात् तर्हि कुतः श्रवणं कुतश्च काव्यानुभूतिरिति पाठ्यमित्येव सर्वस्य काव्यस्य संज्ञा युज्यते। युक्तमुक्तवान् राजशेखरः—

करोति काव्यं प्रायेण संस्कृतात्मा यथा तथा।
पठितुं वेत्ति स परं यस्य सिद्धा सरस्वती।।
यथा जन्मान्तराभ्यासात् कण्ठे कस्यापि रक्तता।
तथैव पाठसौन्दर्यं नैकजन्मविनिर्मितम्।।

यत्तु काव्यं रङ्गमञ्चे प्रदर्शनाय कविना विरच्यते, तत्रैव तस्य सौन्दर्यमुन्मीलति, तद् दृश्यम्। दृश्येऽपि भवत्येव पाठ्यांशः, तस्य पाठो वाचिकाभिनयद्वारेण नटो विदधाति, अप्रयुज्यमाने वा दृश्यकाव्ये कश्चन पाठकोऽपि एकाकी तस्य पाठं कुरुते। तथापि प्राधान्येन प्रदर्शनायैव विरचितत्वात् क्रियमाणे प्रचलितेऽपि वा तस्य पाठे दृश्यकाव्यमिति संज्ञैव तत्रोचिता।

भाषार्थचमत्कृति-कविदृष्टि-बन्ध-रीतीन्द्रियाणि आधृत्य काव्यविधाविभाजनम्।।३।१।२।।

भाषाया आधारेण संस्कृतमहाकाव्यम्, आङ्ग्लनाटकमिति संज्ञा भवन्ति। अर्थोपलब्धिदृशा उत्तमोत्तमम्, उत्तमं मध्यममिति भेदा उक्ता एव। कविदृष्ट्या काव्यं द्विविधम्—विषयप्रधानं विषयिप्रधानं च। तत्राद्ये बहिर्मुखत्वम्, अपरस्मिंश्चान्तर्मुखता। महाकाव्यम्, उपन्यासः, नाटकं चेत्याद्या विधा विषयप्रधानाः। मुक्तकं गजलगीतिश्चेत्याद्याः प्रायो विषयिप्रधानाः। बन्धदृष्ट्या उभयविधमपि काव्यं दृश्यश्रव्यात्मकं तावद् द्विविधम्—निबद्धमनिबद्धं च। निबद्धं प्रबन्धकाव्यं वा महाकाव्यं, खण्डकाव्यं नाटकादिकम्। अनिबद्धं मुक्तकम्, गीतम्, गजलगीतिर्वेत्यादिकम्। रीतिमाश्रित्य गद्यं पद्यं चम्पूश्चेति त्रयो भेदा श्रव्यकाव्यस्यैव। पद्यभेदा उक्ता ज्ञायन्ते च। गद्यभेदेषु निबन्धः, आलोचना, कथा, उपन्यासः, संस्मरणम्, जीवनचरित्रम्, आत्मकथा, रेखाचित्रम्, यात्रावृत्तान्तम्, दैनन्दिनी, वार्ता, साक्षात्कारश्चेत्यादयो भेदाः। इन्द्रियद्वारेण दृश्यं श्रव्यं चेति द्वौ भेदौ।

पद्यात्मकं समग्रजीवननिरूपणपरं महाकाव्यम्। गीतैतिह्य-पुराणलोककथाभेदादस्य नानात्वम्।।३।१।३।।

इदमेव क्वचिन्महावाक्यायमानं कवित्वस्य परां काष्ठां प्रकटीकरोति। यथा—रामायणं महाभारतं वा। यथा वा कालिदासस्य रघुवंशम्। ग्रीकभाषायां होमरकवेरोडिसी इलियड् चेति महाकाव्यद्वयी वा। अत्र जीवनस्य समग्रं रूपं निरूपणीयम्, तेनैव महावाक्यता सैव चालङ्कारः। जीवनं तु प्राग् लक्षितम्—एतेषां त्रयाणामपि आधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकलोकानां सकलः समुल्लासो जीवनमिति। महावाक्यं नाम प्रतिपादितमेव काव्यभेदनिरूपणावसरे प्रथमाधिकरणे चतुर्थाध्याये। उदात्तालङ्कारोऽत्र आद्यन्तं निर्वाह्यः। भवन्ति बहवो भेदा महाकाव्यस्य। अत उक्तम्—**गीतपुराणलोककथाभेदादस्य नानात्वम् इति**।

तत्र गीतामहाकाव्यं प्रथमम्। तल्लक्षणं यथा—

सङ्घर्षे तुमुले द्वन्द्वे युगीने समुपस्थिते।
देशजातिसमाजानामवस्थां निर्दिशत् क्रमात्।।
वर्णयत् तत्प्रसङ्गेन महापुरुषजीवनम्।
विश्वरूपं वैश्विकं वाऽपि दर्शनं कर्मणां गतिम्।।
कर्मयोगस्य तत्त्वं च सकलं समुदाहरत्।
गीता नाम महाकाव्यभेदो ज्ञेयो बुधैरसौ।।
सर्गा अष्टादशप्राया भवन्त्यध्यायसंज्ञकाः।।

यथा श्रीमद्भगवद्गीता वेदव्यासकृता। यथा वा क्षमारावपण्डितायाः सत्याग्रहगीता, उत्तरसत्याग्रहगीता वा। यथा वा ममैव सत्यानन्दगीता। इतिहासकथाश्रितमैतिहासिकं महाकाव्यं यथा रघुवंशः, लेनिनामृतं वा। पौराणिकं वृत्तमाश्रित्य रचितं पौराणिकं यथा किरातार्जुनीयं शिशुपालवधं वा। लोककथाश्रितं यथा बृहत्कथा, कथासरित्सागरो वा।

जीवनस्यैकदेशनिरूपकं खण्डकाव्यम्।।३।१।४।।

तद्यथा—मेघदूतम्। तद्यथोक्तमभिराजेन राजेन्द्रेण—

कस्यचित् पुरुषार्थस्य वर्णनन्तु यदांशिकम्।
जीवनस्याथवा नेतुः खण्डकाव्यं तदुच्यते।।

भवन्ति चास्य सङ्घात-स्तोत्रकाव्य-लहरीकाव्य-सन्देश-काव्यान्यापदेशकाव्य-नीतिकाव्य-गीतिकाव्य-रागकाव्यादयो भेदाः। विषयविशेषमादाय विरचितं पद्यकदम्बकं सङ्घातः। यथा—ऋतुसंहारः कालिदासस्य षड्ऋतुवर्णनमादाय ग्रथितः। स्तोत्रकाव्यं इष्टदेवतास्तुत्यात्मकम्। यथा—शिवमहिम्नःस्तोत्रम् पुष्पदन्तस्य, मातृस्तवः ज्ञानकवेर्वा। लहरीलक्षणं यथा—

पारावारे चेतसि उद्गच्छन्ति च मुहुः सङ्घट्टन्ति।
भावतरङ्गास्तेषां व्यक्तीकरणं भवेल्लहरी।।

सन्देशप्रेषणव्याजेन यत्र सृष्टिसौन्दर्यं कविदृष्टेश्चोन्मीलनं नायकस्य नायिकाया वा मनोभावनिवेदनमन्तर्बाह्यप्रकृत्योः समवेतत्वं तत्र सन्देशकाव्यम्। यथा मेघदूतमुदाहृतमेव। अन्यापदेशेन प्रकृतप्रकाशन-परमन्यापदेशकाव्यम्। यथा शुकवृत्तम्, दस्युशुनकीयं वा ज्ञानकवेः। नीतिकाव्यं यथा भर्तृहरेर्नीतिशतकम्।

तदेवान्त्यानुप्रासध्रुवकान्वितं गीतम्।।३।१।५।।

तद्यथा श्रीनिवासरथस्य—

जीवनगतिरनुदिनमपरा तदेव गगनं सैव धरा।
पापपुण्यविधुरा धरणीयं कर्मफलं भवतादरणीयम्।।

भवति चात्र श्लोकः—

संक्षिप्तिर्भावमयता रागो व्यक्तिगतस्तथा।
तानवं तानवान्मुक्तिरिमे गीतगता गुणाः।।

विविधै रागैर्गेयं ध्रुवकान्वितगीतिसंयुतं रागकाव्यम्।। ३।१।६।।

यथा—गीतगोविन्दम्, यथा वा मम गीतधीवरम्।

मुक्तकम्—

अनिबद्धं तु मुक्तकम्।।३।१।७।।

कथाप्रसङ्ग-घटनेतिवृत्तविन्यासादिभिरबद्धमित्यर्थः। तस्मिंश्च प्रत्येकं पद्यं स्वात्मपर्यवसायि। यदाहुः प्राचीनाः—पूर्वापरनिरपेक्षेणापि येन रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तकमिति। यत्तु वामनेनोक्तम्—नानिबद्धं चकास्ति एकतेजःपरमाणुवत्, तदसत्। एकस्यापि मुक्तकस्य क्वचिद् उत्तमोत्तमकाव्यत्वम्, महावाक्यता च। तद्यथा—

लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितो
निराहारः सख्यः सततरुदितोच्छूननयनाः।
परित्यक्तं सर्वं हसितपठितं पञ्जरशुकै-
स्तवावस्था चेयं विसृज कठिने मानमधुना।।

अत्र कियता कालेन भूमिं लिखन्नुपविष्टः प्रियः कक्षाद् बहिः, पुरा सख्यः समं त्वया अश्नन्ति स्म, त्वयि अनश्नन्त्यां ता अपि तथैव तिष्ठन्ति, पुरा पञ्जरशुकाः कथं हसन्ति स्म पठन्ति स्म, इदानीं तु न तथा इति व्यञ्जनया अतीतगताः प्रसङ्गा उद्घाट्यन्ते, ततश्च वर्तमानकालिकस्य विपर्यासस्य भवति तीव्रा अनुभूतिः, भविष्यदनेहसि किं स्यादिति विचिन्त्य च कम्पते हृदयम्। इत्थमतीतं, वर्तमानं, भविष्यच्च विषयीकुर्वत् जीवनस्य नानादशा विभावयत् पद्यमिदं महावाक्यायते। आधिभौतिकमाधिदैविकमाध्यात्मिकमपि पक्षत्रितयमत्र न समन्वितमिति दिक्।

अथ मुक्तच्छन्दं काव्यम्—

अन्त्यानुप्रासादिविहीनं परिमुक्तपैङ्गलं लयान्वितं काव्यं मुक्तच्छन्दम्।।३।१।८।।

मुक्तच्छन्दे काव्ये न किमपि पूर्वनिर्धारितं छन्द उपादीयते। अन्त्यानुप्रासोऽप्यत्र न निर्वाह्यते। अर्थगतस्य लयस्यात्र प्राधान्यम्। छन्दोऽपि द्विविधम्—पिङ्गलशास्त्रप्रतिपादितनियमानुबद्धं, काव्येऽन्तर्निहितं च। मुक्तच्छन्दकाव्ये तावदन्तर्निहितं छन्दो भवति। तद्यथा पूर्वमवोचाम प्रथमेऽधिकरणे प्रथमाध्याये—नास्ति छन्दोहीनं काव्यम्, तस्माच्च काव्यं छन्द इति समाम्नातम्। तद्यथोक्तं तैत्तिरीयारण्यके (२।५)—'छादयन्ति ह वा एवं छन्दांसि पापात्कर्मणः' इति। अन्यच्च क्वचिद् आधिव्याधिप्रभृतिभौतिकतापेभ्यः क्षणं त्राणादपि आच्छादकत्वम्। तदुक्तं मम्मटेन—काव्यं शिवेतरक्षतय इति। वाचां परिस्पन्दो निवारयत्यमङ्गलम्। अतश्च यथात्मबोधाय तथात्मत्राणाय साहित्यं कल्प्यते। उक्तमेव तैत्तिरीयसंहितायाम्—अग्निरूपात् प्रजापतेरात्मानं त्रातुं देवाश्छन्दांसि श्रितवन्त इति—'प्रजापतिरग्निमचिनुत, स क्षुरपविर्भूत्वाऽतिष्ठत्, तं देवा बिभ्यतो नोपायन्त छन्दोभिरात्मानं छादयित्वोपायन्तच्छन्दसां छन्दस्त्वम् (तै.सं. ५।६।६।१)। छन्दस्तु सर्वत्रानुस्यूतं समेषां मानसे पिनद्धं किमपि तत्त्वम्। काव्येऽपि गद्ये वा पद्ये वाऽस्य व्याप्तिः, प्रतिशब्दं छन्दसो वर्तमानत्वात्। तद्यथोक्तं मुनिना भरतेन—छन्दोहीनो न शब्दोऽस्ति न

च्छन्दः शब्दवर्जितम् इति। अस्य च छन्दसो द्वैविध्यम् आभ्यन्तर-बाह्यभेदात्। यदस्याभ्यन्तरं रूपं तत्तु समग्रां सृष्टिमभिव्याप्नोति। विद्यमाने तस्मिन् प्रबन्धेषु आन्तरिकी सङ्गतिः सम्भवति, तेन तेषु महावाक्यं निष्पद्यते। बाह्यं तु रूपं पिङ्गलादिशास्त्रेण निर्धार्यते। अविद्यमानेऽपि तस्मिन् क्वचिद् भवति छन्दसो निष्पत्तिरिति।

गजलगीतिः—

द्विपदिकाभिर्निबद्धा गीतिर्गजलमुच्यते।।३।१।९।।

गजले प्रत्येकं पादयुगलं द्विपदिका शेर इत्यभिधीयते। प्रथमा द्विपदी प्रारम्भिकी मतलेति वा कथ्यते। द्विपद्या एकं चरणं च मिसरा इति कथ्यते। प्रतिगजलं पञ्च वा पञ्चाधिकानि वा पादयुगलानि स्युः। प्रथमस्य पादयुगलस्य (शेरस्य) मतलेति संज्ञा भवति। प्रतिपादयुगलमुत्तरपादे एकः द्वौ त्रयो वा शब्दा आवर्त्यन्ते। इमे अन्त्यश्रुतिः ('रदीफ') इत्यभिधीयन्ते। रदीफात् प्राक् उपान्त्यश्रुतिः ('काफिया') वितन्यते। प्रारम्भिक्यां द्विपदौ (मिसरायां) प्रतिपदमेव अन्त्योपान्त्यश्रुत्योरावृत्तिः। शिष्टासु द्विपदीषु तु केवलमुत्तरार्ध एव तयोरावृत्तिः। 'काफिया' नाम तुल्यध्वनिसमन्वितानां पदानामावृत्तिः। आद्ये पादयुगले मतलेति संज्ञप्ते उभयोश्चरणयोः रदीफकाफियेत्युभयोर्निर्वाहः, शिष्टेषु पादयुगलेषु उत्तरचरण एव। अन्तिमं पादयुगलं 'मक्ता' इति कथ्यते। मक्तायां कविः प्राय आत्मनाम उपनाम वा कीर्तयति।

प्रत्येकं पादयुगलं विषयभेदाद् भिन्नम्, एक एव विषयः समस्तेषु पादयुगलेषु वर्तत इति विषयदृशा गजलगीतिर्द्विविधा।

अथ समस्या—

प्रदत्तपदावल्याः पूर्तौ समस्या।।३।१।१०।।

समस्यापूर्तिरपीयं कथ्यते। गजलगीतिरिव साऽपि च द्विविधा। एकाभिप्रायान्विता विविधाभिप्रायान्विता च। प्रथमायां समस्तेषु पद्येषु एक एव विषयः। द्वितीयायां प्रतिपद्यं विषयो भिन्नो भवति। आद्याया उदाहरणम्—बच्चूलालावस्थीज्ञानकवेः 'क्व कालिदासस्य जगाम

भारती'ति काव्यम्। तत्र कालिदासीयकाव्यवैशिष्ट्यनिरूपणपराणि सर्वाणि पद्यानि, प्रतिपद्यं च क्व कालिदासस्य जगाम भारतीति चतुर्थः पादः। द्वितीयाया उदाहरणं यथा ममैव 'किम्' इति शीर्षकेण 'सुप्ता किन्नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्? इत्यमरुककवेरेकां पङ्क्तिमादाय रचिता बहवः श्लोकाः। दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

रेखां स्मितनिर्मितां सुरुचिरामोष्ठद्वये कुर्वती
याऽसौ केलिकलाकलापकलने दृष्टिं ददौ नूतनाम्।
याऽऽसीच्छैशवलालिता सहचरी वृत्तिस्तु सा कौतुकी
सुप्ता किन्नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्?।।
आयातोऽस्मि चिराद् गतेऽर्धशतके स्वस्यायुषो ग्रामकं
दृष्ट्वा मां समुपेक्षया प्रचलिता मार्गे जनाः शङ्किताः।
नित्या मे सहजा शिवा परिचितिस्तैः साकमासीत्तु या
सुप्ता किं नु मृता नु किं मनसि मे लीना विलीना नु किम्?

अथ गद्यभेदाः—

निबन्ध-कथोपन्यास-संस्मरणात्मकथा-रेखाचित्र-जीवनचरित-यात्रावृत्तादयो गद्यभेदाः।

निबन्धः—

विचारविशेषस्य भावविशेषस्य गद्येन बन्धो निबन्धः।।३।१।११।।

विचाराणां भावानां च निबन्धनान्निबन्ध इति व्यपदिश्यते। विषयप्रधानो विषयिप्रधान इति द्विधा। विषयप्रधाने निबन्धे विचारस्य चिन्तनस्य भवति प्राधान्यम्। विवरणात्मकः, वर्णनात्मकः, विचारात्मकश्चेति त्रयोऽस्य भेदाः। विषयिप्रधाने निबद्धुर्वैयक्तिका भावा महीयन्ते। अयं द्विविधः—भावात्मको ललितनिबन्धश्च। तत्र भावात्मको यथा मम 'दूर्वा न म्रियते' इति निबन्धः। ललितनिबन्धाश्च परमानन्दशास्त्रिण उदाहर्तव्याः।

कथा—

जीवनस्यैकदेशनिरूपणपरमाख्यानं कथा।।३।१।१२।।

अत्र साक्ष्यम्, द्वन्द्वं, तानवं चालङ्कारा विशिष्यापेक्ष्यन्ते। यथा भट्टमथुरानाथ-क्षमाराव-राजेन्द्रमिश्रादीनां कथाः।

उपन्यासः—

गद्यबद्ध उपन्यासो महाकाव्यमयी कथा।।३।१।१३।।

महाकाव्यमिव जीवनस्य सर्वाङ्गीणं रूपं निर्दिशति। उदात्तालङ्कारश्चात्र अवश्यं स्यात्। स्मृतिस्तमुपोद्बलयति। प्रेमाह्लादविषादनविभीषिकादिभिः सविशेषं प्रभावशाली सञ्जायत उपन्यासः। यथा टॉल्सटायकृतो युद्धं शान्तिश्चेत्युपन्यासः, यथा वा बौरिसपास्तरनाककृतः 'डॉ. जिवागो' इत्युपन्यासः।

उपन्यासे कथारम्भः, सङ्घर्षः, आरोहः, अवसानम्, समाप्तिर्वेति चत्वारोऽवस्था भवन्ति।

उपन्यासभेदाः—घटनाप्रधानः, सामाजिकः, राजनैतिकः, ऐतिहासिकः, मनोवैज्ञानिकः, आञ्चलिकः, जीवनचरितात्मकश्चेति।

संस्मरणम्—

यथावृत्तस्य स्मृत्या आख्यानं संस्मरणम्।।३।१।१४।।

संस्मरणे तु प्राधान्यं स्मृतेः स्यादलङ्कृतेः।
घटनाश्च प्रसङ्गाश्च व्यक्तयो जातयस्तथा।।
यथा साक्षात्कृताः पूर्वं तथैव स्युर्निरूपिताः।।
साक्ष्यनामा ह्यलङ्कारः पूर्वं यः परिभाषितः।
संस्मरणाख्ये काव्येऽसौ सविशेषं स्मृतिसङ्गतः।।
अलङ्कारास्तथा चान्ये प्रेम, नर्म, विषादनम्।
अङ्गभावमिमे प्राप्ता व्यङ्ग्यं छायादयोऽपि वा।।

रेखाचित्रम्—

शब्दैर्घटनाया व्यक्तेश्चित्रमिव निर्मितं रेखाचित्रम्।।
३।१।१५।।

अत्र स्वभावोक्तेर्जातिर्वा सर्वथा प्राधान्यम्। स्मृतिरलङ्कारोऽपि भवति समन्वितः। रेखाचित्रे विषयप्रधानं भवति, संस्मरणं तु विषयिप्रधानमित्यनयोर्विवेकः।

जीवनचरितम्—

कस्यचिन्महापुरुषस्य प्रेरणाप्रदं चरितनिरूपणं जीवनचरितम्।।३।१।१६।।

क्वचिदिदं पद्यात्मकमपि भवति यथा क्षमादेव्याः शङ्करजीवनाख्यानम्। तथापि गद्यात्मकत्व एवैतस्य सङ्गतिः। तद्यथा अप्पाशास्त्रिचरितम्।

आत्मकथा—

जीवनचरितस्यैव प्रकारविशेष आत्मकथा।।३।१।१७।।

कविः प्रणेता वा स्वस्य चरितं स्वयमेव वर्णयति। अत्र उत्तमपुरुषप्रयोग आद्यन्तं स्यात्। अहङ्कारः साक्ष्यालङ्कारश्चास्य सौन्दर्यं प्रगुणयतः। आङ्ग्लभाषायां बर्ट्रेण्डरसलमहोदयस्य विंस्टनचर्चिलस्य नेहरूजवाहरलालस्य वात्मकथाः, तथैव महात्मनो गान्धिन आत्मकथा वा सन्त्युत्कृष्टानि उदाहरणानि।

यात्रावृत्तम्—

यात्राया यथानुभूतं वर्णनं यात्रावृत्तम्।।३।१।१८।।

कविना स्वयं कृताया यात्राया यथानुभूतं यथादृष्टं वर्णनं यात्रावृत्तम्। यथानुभूतत्वेन प्रत्यक्षप्रमाणसाधिता यात्राऽत्र गृह्यते। तेन विश्वगुणादर्शचम्पूप्रभृतिपुरातनप्रबन्धा न यात्रावृत्तत्वेन ग्राह्याः। अत्र स्थलविशेषस्य ऐतिहासिकं, भौगोलिकं, सांस्कृतिकं च समग्रमपि वैशिष्ट्यं विशदं भासते। अत्रापि साक्ष्यालङ्कारः प्रधानः, सञ्चरति तेन सह कौतुकालङ्कृतिरपि। यथा यात्रावृत्तं नवलकिशोरकाङ्करस्य।

अथ दृश्यकाव्यम्—

दृश्यं तु रूपकम्।।३।१।१९।। तच्च द्विविधम्–एकाङ्कं नाटकं च।।३।१।२०।।

एकाङ्क एव प्रहसन-भाणादीनामन्तर्भावः। नाटके च प्रकरणादीनाम्। तत्रैकाङ्क एक एव अङ्कः एकस्मिन् दृश्ये दृश्यान्तरैर्वा प्रस्तूयते, अत्र प्रसङ्गविशेष एका घटना वा निरूप्यते। नाटके तु एकाधिकेष्वङ्केषु समग्रं

समुल्लसति जीवनम्। जीवनस्य प्रस्तुतिराधिभौतिकाधिदैविकाध्यात्मिकपक्षाणां समन्वितिश्च एकाङ्के मुक्तखण्डकाव्यादिवत्, नाटके च भवति महाकाव्योपन्यासादिवत्, केवलं सर्वमधिरङ्गमञ्चं प्रदर्शनाय विशिष्टो विन्यासो विधीयते तस्य सर्वस्येति दिङ्मात्रमिदं निरूपितम्।

।। इति श्रीराधावल्लभविरचिते अभिनवकाव्यालङ्कारसूत्रे काव्यविशेषविमर्शो नाम तृतीयमधिकरणम्।।

।। समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।।

प्राच्यपाश्चात्त्यसाहित्यशास्त्राणां क्षीरसागरम्।
निस्सारितं विनिर्मथ्य नवसिद्धान्तमौक्तिकम्।।

राधावल्लभ इत्याख्यो विदुषां स वशंवदः।
काव्यालङ्कारसूत्रं सोऽभिनवं व्यदधादिदम्।।

कारिकाभिः परिकरैः श्लोकैर्वृत्त्या तथाऽन्वितम्।
नवीनैर्लक्षणैर्युक्तं नवोन्मेषनिदर्शकम्।।

प्राचीनानां नवीनानां कवीनां समुदाहृतैः।
पद्यैः सुललितैर्जुष्टं नव्यकाव्यं परामृशत्।।

भूयादिदं सरस्वत्याः कण्ठहारश्चिरं पुनः।
काव्यतत्त्वविदां चापि हृदयानि परामृशेत्।।इति।

सम्पूर्णानन्द-संस्कृत-विश्वविद्यालयः

श्रुतम् मे गोपाय